

वरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। इसी तरह मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। मैं अवधि ज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। इसी प्रकार समस्त कर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंमें समझना चाहिए। कहा है-कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेंरे द्वारा बिना भोगे ही खिर जावे, मैं, चैतन्य स्वरूप आत्माका निश्चयरूपसे संचेतन करता हूँ। अर्थात् ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञाता दृष्टि रूपसे मात्र देखता हूँ उसका भोक्ता नहीं होता। इसलिए मैंरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें। मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता द्रष्टा ही रहूँ। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत दशामें इस प्रकारका ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है। जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है। आशय यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है तब उसे यह ज्ञान-श्रद्धान तो होता ही है कि मैं मेा शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ। परन्तु पूर्व बद्ध कर्म उदय आनेपर उनसे होनेवाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर त्रिकाल सम्बन्धी ४९, ४९ भंगोके द्वारा कर्म चेतनाके त्याग की भावना करके एक चैतन्य स्वरूप आत्मको भोगना ही शेष रह जाता है। अविरत् देशविरत और प्रमत्त संयत जीवके ज्ञान श्रद्धानमें निरन्तर यह भावना तो है ही। जब वह अप्रमत्त दशाको प्राप्त करके एकाग्रचित्तसे ध्यान लगाकर-केवल चैतन्य मात्र अवस्थामें उपयोग लगाकर-शुद्धोपयोगरूप होता है, तब श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। उस समय उस भावनाका फल जो कर्मचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान चेतना रूप परिणमन है, वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त कालतक ज्ञान चेतना ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न होता है। कहा है-समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञान चेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंके फलका संन्यास करनेसे मैं चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वको ही अतिशय रूपसे भोगता हूँ। इसके सिवाय अन्य उपयोगकी क्रिया तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्तिसे रहित अचयल हूँ। सो मेरी यह अनन्त कालावलीतक आत्मतत्त्वके उपयोगमें ही प्रवृत्ति रहे, अन्यमें न जावे। जो पुरुष पूर्वकालमें किये कर्मरूपी विषवृक्षके उदयरूप फलको स्वामी होकर भी नहीं भोगता और अपने आत्मस्वरूपमें ही तृप्त है वह पुरुष कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखमयी उव दशाको प्राप्त होता है जो वर्तमान कालमें रमणीय है और उत्तर

उक्तं च समयसारे-

कम्मं जं पुब्बकयं सुहासुहमण्यवित्थरविसंसेसं ।
 ततो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥
 कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्मि बज्झड् भविस्स ।
 ततो णियत्तए जो पच्चक्खाणं इवइ चेया ॥
 जं सुहमसहमुदीण्णं सपदि य अणेयवत्थरविसेसं ।
 तं दोसं जो चेयइ सो खलू आलोयण चेया ॥
 णिच्चं पच्चक्खाणं कुब्बइ णिच्चं पडिक्कमइ जो य ।
 णिच्चं आलोचयइ सो हु चरितं इवइ चेया ॥ (गा. ३८३-३८३)

इत्थं चात्र भावार्थसंग्रहकारिका नित्यमध्येतव्या-

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।

अज्ञानसंसंचेतनया तु धावत् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि अन्धः ॥

(स. कलश, श्लो. २२४) ॥ ६४ ॥

कालमें भी रमणीय है । ज्ञानीजन कर्म तथा कमकेफलसे अत्यन्त विरत भावनाको निरन्तर भाकर, और समस्त अज्ञान चेतनाके विनाशको अच्छी तरहसे नचाकर, अपने निजरससे प्राप्त स्वभावरूप ज्ञान चेतनाको सानन्द पूर्ण करके नृत्य कराते हुए आगे प्रशमरसको सदा काल पीते रहें ।

इसी अभिप्रायका संग्रह नीचे लिखे श्लोकोंमें है । अतः उनका नित्य चिन्तन करना चाहिए । उनमें कहा है-जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र रूप पुण्यकर्म, तथा ज्ञानावरणादि रूप पापकर्म समस्त या व्यस्त कारणोंसे जीवने योग और कथायके वशस बाँधा है, उसका जो सदा प्रतिक्रमण करता है अर्थात् मेरा दुष्कृत मिथ्या हो इत्यादी उपयोंसे उदयमें आनेसे पहले ही निराकरण कर देता है वह अहं प्रत्ययसे संवेद्य चिन्मात्र आत्मा स्वयं चारित्र है । अर्थात् अखण्ड ज्ञान स्वभाव रूप अपनेमें ही निरन्तर चरण करनेसे चाहित्र है । तथा स्वयं चारित्ररूप होता हुआ अपने ज्ञान मात्रका संचेतन करनेसे स्वयं ही ज्ञान चेतना होता है । तथा जो पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्म वर्तमानमें उदयमें आ रहा है । उसकी जो सदा आलोचना करता है अर्थात् अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह चिन्मात्र आत्मा स्वयं चारित्र है । तथा जो शुभाशुभ कम भविष्यमें बँधनेवाला है उसका प्रत्याख्यान करनेवाला स्वयं चिन्मात्र आत्मा चारित्र है । उसीको स्पष्ट करते हैं-समस्त मन, वचन, कायसे या इनमें-से एक या दो से, कृत कारित अनुमत रूप शुभाशुभ कर्मको निष्फल करनेके लिए मैं नित्य प्रतिक्रमण करता हूँ । तथा उदयमें आते हुए पूर्वबद्ध कर्मको मैं आपनेसे अत्यन्त भिन्न त्रित्य अनुभव करता हूँ । तथा आगामीमें बँधनेवाले कर्मको नित्य रोकता हूँ ।

सर्वयाऽऽतं प्रतिक्रमन्नुद्यदालोचयन् सदा ।

प्रत्याख्यान् भावि सदसत्कर्मात्मावृत्तवृत्तमस्ति चित् ॥

नैष्फल्याय क्षिपेत्रेघा कृतकारितसम्मत्म् ।

कम स्वाच्चेतयेऽयत्नभिदोद्यदृन्ध उत्तरम् ॥

अहमेवाहमित्येव ज्ञानं तच्छुद्धये भजे ।

शरीराद्यहमित्येवाज्ञानं तच्छेत् वर्जये ॥ ()

अथ पट्टभिः पट्टैः प्रत्याख्यानं व्याख्यातुकामो नामदिषड्विधनिक्षेपविभक्तं तत्तावल्लक्षयन्नाह-

निरोद्धुभागो यत्मार्गच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति ।

नामादीन् षड्षि त्रेघा तत्प्रत्याख्यानमामनेत् ॥ ६५ ॥

मार्गच्छिदः-रत्नत्रयविरोधिनः । तथा चोक्तम्-

नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् ।

प्रत्याख्यानं समाख्यातमागम्यागोनिषिद्धये । ।

निमर्योक्षः-मोक्षार्थी । तत्-अयोग्यनामाद्युज्झनलक्षणम् । तथाहि-अयोग्यानि पापकारणानि नामानि कर्तव्यानि न कारयितव्यानि, नानुमन्तव्यानीति नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा । तथा पापबन्धहेतुभूता मिथ्यात्वादिप्रवर्तिका मिथ्यादेवतादिस्थापनाः पापकारणद्रव्यप्रतिरुयाणि च कर्तव्यानि न कारयितव्यायनि नानुमन्तव्यानीति स्थापनाप्रत्याख्यानं प्रत्यावयापरिणतप्रतिबिम्बं वा सद्वावासद्वावरुपं तत्स्यात् । पापार्थं सावद्यं द्रव्यं निरवद्यमपि च तपोऽर्थं व्यक्तं न भोज्यं न भोजयितव्यं नानुमन्तव्यामिती द्रव्यप्रत्याख्यानम् । अथवा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्वयरिरिक्तं च तस्स्यात् । असंयमाविहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य त्यजनं त्याजनं त्यज्यमानस्यानुमोदनं च क्षेत्रप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितः प्रदेशी वा । असंयमादिनिमित्तस्य कालस्य त्यजनादिकं कालप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितः कालो वा । मिथ्यात्वादीयानां

तथा ज्ञानकी शुद्धिके लिए मैं शब्दसे वाच्य आत्मा ही मैं हूँ, शरीर आदि मैं नहीं हूँ, इस ज्ञानकी ही मैं आराधना करता हूँ । तथा ज्ञानकी शुद्धिकी भ्रष्ट करनेवाला जो अज्ञान है कि शरीरदि पर द्रव्य मैं हूँ इसे मैं छोडता हूँ । इत्यादी । इसका विस्तार अमृतचन्द्र रचित समयसार टीका (गाथा ३८३-३८९) में देखना चाहिए ॥ ६४ ॥

आगे पाँच पद्योंसे प्रत्याख्यानका कथन करते हैं । उसके छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद है । प्रथम उसका लक्षण कहते हैं-

पापकर्मो निवारण करनेके लिए मुमुक्षु भव्य तो रत्नत्रयरुप मोक्षमार्गके विरोधी छहों अयोग्य नाम स्थापना आदिका मन, वचन, कायसे त्याग करता है उसे आचार्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ-प्रत्याख्यानमें छह निक्षेप इस प्रकार होते हैं - नाम प्रत्याख्यान, स्थापना प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान, क्षेत्र प्रत्याख्यान, काल प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान । अयोग्य अर्थात् पापके हेतु नामोंको न करना चाहिए, न कराना चाहिए और न अनुमोदन करना चाहिए । यह नाम प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान इस नाममात्रको नाम प्रत्याख्यान कहते हैं । पापबन्धके कारणभूत और मिथ्यात्व आदिमें प्रवृत्ति करानेवाली स्थापनाको अयोग्य स्थापना कहते हैं । मिथ्या देवता आदि के प्रतिबिम्ब, जो पापके कारण द्रव्य रूप हैं उन्हें न करना चाहिए, और न कराना चाहिये और न उनकी अनुमोदन करना चाहिये । यह स्थापना प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान की सद्वाव या असद्वाव रूप प्रतिबिम्ब स्थापना प्रत्याख्यान है । जो सावध द्रव्य पापबन्ध का कारण है अथवा निदोष सेवन कराना चाहिए और कोई सेवन करता हो तो उसकी अनुमोदना नहीं करनी चाहिए । यह द्रव्य प्रत्याख्यान है । अथवा जो मनुष्य प्रत्याख्यान विषयक आगमका ज्ञज्ञता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है उसे आगम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते

है । प्रत्याख्यान विषयक ज्ञाताका शरीर,उसके कर्म नोकर्म तथा जो जीव भविष्यमें प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा,

मनोवाक्कायैस्त्यजनादिकं भावप्रत्याख्यानम् । अथवा प्रत्याख्यानप्राभुतज्ञायकस्तद् विज्ञानं जीवप्रदेशा वेति । किं च, भविष्यद्वर्तमानकालविषयाती चारनिर्हरणं प्रत्याख्यानम् इत्याचारटीकाकारेण यत्प्रत्याख्यानलक्षणामाख्यायि तदपि निरोदधूमाग इति सामानयनिर्देशादिह संगृहीतमुन्नेयम् ॥ ६५ ॥

एतदेव संगृहत्राह-

तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं क्षेत्रमडृसा ।

तं कालं तं च भावं न श्रयेन्त श्रेयसेऽस्ति यत् ॥ ६६ ॥

अडृसा-परमार्थेन, भावेनेत्यर्थः । एतेनोपसर्गादिवशादयोग्यश्रयणेऽपि न प्रत्याख्यानहानिरिति बोधयति ॥ ६६ ॥

अथ योग्यनामादिसेविनः परम्परया रत्नत्रयाराधकत्वमवश्यंतया प्रकाशयत्राह-

यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तः पृथक्स्वान्तमुपैति मूर्तेः ।

सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगनधमाराधयत्येक स वर्त्म मुक्तेः ॥ ६७ ॥

उपयोगः-सेवनम् । स्वान्तं-आत्मस्वरूपम् । अपराधगनधं-राधः संसिद्धिः स्वात्मोपलब्धि रित्यर्थः । अपगती राधी अपराधः-परद्रव्यग्रहः । तस्य गन्धमपि प्रमादलेशमपीत्यर्थ ॥ ६७ ॥

ये सब नोआगम द्रव्य प्रत्याख्यान हैं । असंयम आदिके कारणभूत क्षेत्रका स्वयं त्याग करना, दूसरेसे त्याग कराना तथा कोई अन्य करता हो तो उसकी अनुमोदना करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है । अथवा जिस क्षेत्रपर प्रत्याख्यानकिया गया हो वह क्षेत्र प्रत्याख्यान है । असंयम आदिमें निमित्त कालका स्वयं करना, दूसरेसे त्याग कराना और कोई अन्य उसका त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना काल प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान करनेवालेके द्वारा सेवित कालको काल प्रत्याख्यान कहते हैं । मन वचन कायसे मिथ्यात्व आदिका त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त है उसे, उसके प्रत्याख्यान विषयक ज्ञानको और जीव प्रदेशोंको भाव प्रत्याख्यान कहते हैं । इस प्रकार प्रत्याख्यानके विषयमें छह प्रकारका निक्षेप होता है । मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने गाथा ७/१३५ की टीकामें उक्त छह निक्षेपोंका वर्णन करके अन्तमें भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी अतीचारोंके निरोधको प्रत्याख्यान कहा है । उपरके श्लोकमें निरादुमागः इस सामान्य कथनसे उसका भी संग्रह इस ग्रन्थके रचयिताने क्रिया है ॥६५॥

उसीको संगृहीत करते हुए कहते हैं-

जो मोक्षको साधनमें उपयोगी नहीं है उस नामको, उस स्थापनाको, उस द्रव्यको, उस क्षेत्रको उस कालाको और उस भावको परमार्थमें सेवन नहीं करना चाहिए। परमार्थसे कहनेसे यह ज्ञान कराया है कि उपसर्ग आदिके कारण अयोग्यका सेवन होनेपर भी प्रत्याख्यानमें हानि नहीं होती ॥ ६५ ॥

जो योग्य नाम आदिका सेवन करता है वह परम्परासे अवश्य ही रत्नत्रयका आराधक होता है, यह प्रकट करते हैं-

जो नामादि योग अर्थात् शुद्धोपयोगमें सहायक होते हैं उन्हें योग्य कहते हैं। जिस साधुने ऐसे योग्य यनाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावके सेवनसे अपने मनको पवित्र क्रिया है, और शरीरसे आत्माको भिन्न मानता है, सदा अपराधकी गन्धसे दूर रहनेवाला वह साधु मोक्षके मार्गका अवश्य ही आराधक होता है ॥ ६७ ॥

अथ द्रव्यप्रत्याख्यानविशेषं व्यवहारोपयोगितया प्रपङ्गयन् प्रत्याख्येयविशेषं प्रत्याख्यातारं च लक्षयति-

सावद्येतरसञ्चिताचित्तमिश्रोपधीस्त्वयजेत् ।

चतुर्धाहीरमप्यादिमध्यान्तुष्वाज्ञयोत्सुक ॥ ६८ ॥

त्यजेत् । प्रत्याख्येयानोक्तिरियम् । उपध्याहारौ तु प्रत्याख्येयो । अपि-अनुक्तसमुच्चये । तेन त्रिविधाहारादिरपि प्रत्याख्येयो विज्ञेयः । आदौ-प्रत्याख्यापग्रहणकाले । मध्ये-मध्यकाले । अन्ते-समाप्तौ । आज्ञयोत्सुकः-अर्हदाज्ञागुरुनियोगयोरुपयुक्तो जिनमंतं श्रद्धत् । गुरुक्तेन प्रत्याचक्षण इत्यर्थः । उक्तं च-

आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानतः ।

साकारमनाकारं च सुसन्तोषोऽनुपालयन् ॥

प्रत्याख्याता भवेदेषः प्रत्याख्यानं तु वर्जनम् ।

उपयोगि तथाहारः प्रत्याख्येयं तदुच्यते ॥ () ॥ ६८ ॥

अथ बहुविकल्पमुपवासादिप्रत्याख्यानं मुमुक्षोः शक्त्यनतिक्रमेणावश्यकर्तव्यतयोपदिशति

विशेषार्थ-राधका अर्थ होता है संसिद्धि अर्थात् स्वात्मारोपलब्धि, अतः अपराधका अर्थ होता है परद्रव्यका ग्रहण, क्योंकि वह स्वात्मोपलब्धिका विरोधी है। उसकी गन्धको भी जो नहीं छुता अर्थात् जिसके कप्रमादका लेख भी नहीं रहता। ऐसा साधु अवश्य ही मोक्षमार्गका आराधक होत है ॥ ६७ ॥

द्रव्य प्रत्याख्यान व्यवहारमें उपयोगी होता है उतः उसका विशेष कथन करते हुए प्रत्याख्येय-छोड़ने योग्य विषयोंके विशेषके साथ प्रत्याख्याताका स्वरूप कहते हैं-

अर्हन्त देवकी आज्ञा और गुरुकेनियोगमें दत्तचित्त होकर अर्थात् जिनमतके श्रद्धान पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय, उसके मध्यमें तथा उसकी समाप्ति होनेपर सावध और निरवघ दोनों ही प्रकारकी सचेतन, अचेतनऔर सचेतन अचेतन परिग्रहोंका तथा चारों प्रकारकेआहारका त्याग करना चाहिए ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ-ऊपर श्लोकमें केवल आज्ञा पद है उससे अर्हन्तदेवकी आज्ञा और गुरु का नियोग दोनों लेना चाहिए । जिसमें हिंसा आदि होते हैं उसे सावध और जिसमें हिंसा आदि नहीं होते उसे अनिरवघ करते हैं । यहाँ परिग्रह आदिका त्याग प्रत्याख्यान है और परिग्रह भोजन वर्गरह प्रत्याख्येय-त्यागने योग्य द्रव्य है । कहा है-अर्हन्तकी आज्ञासे, गुरुके उपदेशसे और चारित्रकी श्रद्धासे जो दोषके स्वरूपको जानकर व्रतका ग्रहण करते समय उसके मध्यमें और उसकी समाप्ति पर सविकल्पक या निर्विकल्प चारित्रका पालन करता है या अनिरवघ द्रव्यका त्याग या त्यागरूप परिणामका होना प्रत्याख्यान है । और सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त उपाधि, क्रोधादिरूप परिणाम और आहारादि प्रत्याख्येय हैं, इनका प्रत्याख्यान क्रिया जाता है ॥ ६८ ॥

आगे उपदेश देते हैं-कि मुमुक्षुको अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकारके उपवास आदि प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए-

आणाय जाणणा विय उवजुतो मूल मज्झणिदेसे ।

आगारमणागारं अणुपार्लेतो दढधिदीओ ॥ -मुलाचार ७/१३७ ।

अनागतादिदशभिद् विनयादिचतुष्कयुक् ।

क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम् ॥ ६९ ॥

अनागतादिदशभिद्-अनागतादयो दश संख्या भिदो यस्य । ताश्च यथा-

अनागतमतिक्रान्त कोटीयुतमखण्डितम् ।

साकारं च निराकारं परिमाणं तथेतरत् ॥

नवमं वर्तनीयातं दशमं स्यात् सहेतजुकम् ।

प्रत्याख्यानविकल्पोऽभेवं सूत्रे निरुच्यते ॥ ()

अनागतं चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिकं यत् त्रयोदश्यादिषु क्रियते । अतिक्रान्तं चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिकं यत् प्रतिपदादिषु क्रियते । कोटियुत्र स्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्याति तदोपवासं करिष्यामि, नो चेत् करण्यामीत्यादी संकल्पसमन्वितं यत् क्रियते । अखण्डित-तवश्यकर्तव्यपाक्षिकरादिषूपवासकराम् । साकार सर्वतोभद्रकनकावल्याद्यु पवासविधिभेदसहितम् । निराकारं स्वैच्छयोपवासादिकरणम् । परिणामं पष्ठाष्टमादिकालपरिच्छेदेनोपवासादिकरणम् । परिमाणविषयत्वात्थोक्तम् । इतरत् यावज्जीवं चतुर्विघाहारदित्यायोऽपरिशेषमित्युच्ययते । वर्तनीयातमध्वगतं नाम अटवीनद्यादिनिष्क्रमण-द्वारेणोपवासादिकरणम् । सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तपेक्षपवासादिकरणम् । विनयादिचतुष्कयुक् विनयादि-चतुष्टविशुष्टम् ।

यथाह-

कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि ।

पङ्कधा विनयाच्छुद्धं प्रत्याख्यानमिद्र भवेत् ॥

गुरोर्वचोऽनुभावं चेच्छुद्धं स्वरपदादिना ।

प्रत्याख्यानं तथा भूतमनुवादामलं भवेत् ॥

मुमुक्षुको अपनी शक्तिके अनुसार और आगामके अनुसार अनागत आदिके भेदसे इस भेद रूप और विनय आदि चारसे युक्त क्षपण अवश्य करना चाहिए ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ-जिससे शरीर और इन्द्रियोंको तथा अशुभ कर्मको कृश किया जाता है । उसे क्षपण अर्थात् उपवासादि प्रत्याख्यान कहते हैं । साधुको यथाशक्ति और आगमोक्त विधिके अनुसार उपवास आदि अवश्य करना चाहिए । उसके इस प्रकार कहे हैं- चतुर्दशी आदिकश्च दिन कर्तव्य उपवास आदिको त्रयोदशी आदिमें करना अनागत है । कल स्वाध्यायका समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास आदि करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा इस प्रकार के संकल्प पूर्वक किया गया प्रत्याख्यान कोटिसहित है । अवश्य कर्तव्य पाक्षिक आदि अवसरोंपर उपवास आदि अवश्य करनरा अखण्डित है । जो सर्वतोभद्र, कनकावली आदि उपवासविधि भेदपूर्वक कहे हैं, उन्हें करना साकार या सभेद प्रत्याख्यान हैं । षष्ठ, अष्टम् दशम, द्वादशभ, पक्ष, अर्थपक्ष, मास आदि कालका परिमाण करके उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है । जीवन पर्यन्तके लिए चारप्रकारके आहारादिका त्याग अपरिषेध प्रत्याख्यान है । जीवन पर्यन्तके लिए चार प्रकारके आहारादिका त्याग अपरिशेष प्रत्याख्यान है । मार्गमें अटवी, नदी आदि पार करनेपर किया गया उपवास अयादि अध्वगत प्रत्याख्यायन है । उपसर्ग आदि आनेपर किया गया उपवास सहेतुक प्रत्याख्यान है । ये दस प्रत्याख्यानके भेद हैं । तथा ये प्रत्याख्यान विनय आदिसे युक्त होने चाहिए । विनयके पाँच

श्रमातडूपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेऽपि वा ।

प्रपालितं न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम् ॥

रागद्वेषयेनान्तर्यद् भवेन्नैव दूषितम् ।

विज्ञेयं भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे ॥ ()

क्षपणं-क्षप्यतेऽपकृष्यते देहेन्द्रियादिकमशुभकर्म वा अनेनेति

क्षपणमिहोपवासादिप्रत्याख्यानमाख्यायते ॥ ६९॥

अथ सप्तभिः पदैः कायोत्सर्गं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणप्रयाक्तहेतुविकपनिणयार्थमिदमादी निर्दिशति-

मोक्षार्थी जितनिद्रकः सुकरणः सूत्रार्थविद् वीर्यवान्

शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभ्रुजायुग्मो यदास्तेऽबलम् ।

ऊर्ध्वञ्जुश्चतुरउलान्तरसमाग्रांघ्रिनिषिनिघा-

द्याचारात्ययशोनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥ ७० ॥

सुकरणः-शोभना क्रिया परिणामो वाऽस्यां शुद्धदात्मा- असंययतसभ्यन्दृष्टयाद्रिभव्यः । उक्तं च-

मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञः शुभक्रियः ।

बलवीर्ययुतः कायोत्सर्गी भावविशुद्धिभासकः । ()

अचलं-निखलपादहस्ताधरनेत्रादिसर्वाङ्गम् । ऊर्ध्वञ्जुः-ऊर्ध्वजानुः । ऊर्ध्व परलोकं जानानश्च ।

उक्तं च-

प्रकार हैं-सिद्ध भक्ति, योगभक्ति गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्म विनय है। दोनों हस्तपूट संयुक्त करके मस्तकसे लगाना, पिच्छिकासे वक्षस्थलाका भूषित होना इत्यादि उपचार विनय है। इ पानविनय, दर्शनविनय, चरित्रविनयका स्वरूप पहले कहा गया है। इन पाँच प्रकारकी विनयसे युक्त प्रत्याख्यान विनय शुद्ध होता है। गुरुने प्रत्याख्यानके अक्षरोंका पाठ जैसा किया हो, स्वर व्यंजन आदिसे शुद्ध वैसा ही उच्चारण करना अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है। अचानक किसी रोगका आक्रमण होनेपर, उपसर्ग आनेपर, अत्यन्त श्रमसे थके होनेपर दुर्भिक्ष होनेपर, विकट बन आदि भयानक प्रदेशमें पहुँचनेपर भी, इन सबमें भी प्रत्याख्यानका पालन करना और उस में किंचित् भी त्रुटि न होने देना अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है। जो प्रत्याख्यान राग द्वेष रूप परिणामोंसे दूषित नहीं है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है। (मूलाचार (७/१४२-१४६) इस प्रकार प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा ॥ ६९ ॥

आगे सात श्लोकोंके द्वारा कायोत्सर्गका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार प्रारम्भमे कायोत्सर्गका लक्षण, उसका करनेवाला, प्रयोजन और भेद कहते हैं-

मुक्तिका इच्छुक निद्राको जीत लेनेवाला शुभ किया और परिणामोंसे युक्त, आगमके अर्थका इ जाता, तीर्यवान, बलवान, असयंत सम्यग्दृष्टि आदि भव्य दोनों हाथोको नीचे लटकाकर, और दोनों चरणोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर देकर तथा उनके अग्रभागोंको बिलकुल सम रूपमें रखते हुए निश्चल खड़ा होता है उसे इस आश्वश्यक प्रकरणमें कायोत्सर्ग कहते हैं। यह कायोत्सर्ग आगममें निषिद्ध नाम आदिके आचरणसे लगनयेवाले दोषोंकी विशुद्धिके लिए किया जाता है। तथा उससके छह भेद हैं ॥ ७० ॥ विशेषार्थ-यहाँ कायोत्सर्ग करनेवालेका स्वरूप, कायोत्सर्गका लक्षण, प्रयोजन और भेद कहे हैं। कायोत्सर्ग करनेका पात्र शुद्धात्मा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि भव्य जीव ही होता है। वह भी मुमुक्षु निद्राजयी, आगमका अभिप्राय जाननेवाला और अच्छे परिणामसे

वोसरिदबाहुजुयलो चउरंगुलमंतरेण समपादो ।

सवंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥ (मूलाचार गा. ६५०)

निषिद्धेत्यादि-खरपरुषादिनायामसावद्यसापनाद्यनुष्ठानजातातिचारशुद्धिहेतोः । उक्तं च-

आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः ।

कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना ॥

इह-आवश्यकप्रकरणे । तनूत्सर्गः-तनो कायस्य तात्स्थ्यात्तनुममत्वस्योत्सर्गस्त्यागः । उक्तं च-

ममत्वमेव कायस्थं तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते ।

तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः ॥ ()

स-मोक्षार्थित्वादिगुणस्य प्रलम्बितभुजायु ग्याद्यवस्थानलयक्षणः । षोढा-नामादिभेदेन षट्प्रकारः । तथाहि-सावद्यनामकरणागतदोषविशुद्धयर्थ कायोत्सर्गो नामकायोत्सर्गः कायोत्सर्गनाममात्रं वा । पापस्थापना-द्वारागतदोषोच्छेदाय कायोत्सर्गः स्थापनाकायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बं वा । सावद्द्रव्यसेवनद्वारे-णानागतातीचारनिर्हरणय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभूतइ

१०ऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यति-रिक्ती वा द्रव्यकायोत्सर्गः । सावद्यक्षेत्रद्वारातदोक्षध्वससंनाय
कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा

युक्त होना चाहिए । साथ ही उसमें नैसर्गिक शक्तिके साथ शारीरिक शक्ति भी होना चाहिए । ये सब कायोत्सर्ग करनेवालेकेलिए आवश्यक हैं । वह दोनो हाथोंको नीचे लटकाकर इस प्रकार खड़ा होता है कि उसके दोनों पैरोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रहे तथा दोनों पैर एक सीधमें हो, आगे पीछे नहीं । यह कायोत्सर्गकी मुद्रा है । इस मुद्रामे खड़े होकर शरीरके प्रति ममत्वके त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । यह कायोत्सर्गका लक्षण है । यहाँ काय शब्दसे कायका ममत्व लेना चाहिए । उसके उत्सर्ग अर्थात् त्यागको ही कायोत्सर्ग कहते हैं । मूलाचारमें कहा है-दोनों भुजाओंको नीचे लटकाकर, चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैरोको एक सीधमें रखकर हाथ-पैर, सिर-गरदन, आँख-भौ, आदिको निश्चल रखना विशुद्ध कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्गकी इस मुद्रामें स्थित होकर जो शरीरके प्रति ममत्व भाव छोड़ा जाता है वह वस्तुतः कायोत्सर्ग है । कहा है-शरीरमे रहनेवाले ममत्वको ही काय कहा है क्योंकि वह मोह शरीरको लेकर होता है । जिनबिम्बकेसमान मुद्रा धारण करनेवाले साधुकेउस ममत्व त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं ।

वह कायोत्सर्ग दोषोंकी विशुद्धि, तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जराकेलिए किया जाता है, कहा है-
व्रती पुरुषको कायोत्सर्गका प्रयोजन दोषोंकी विशुद्धि तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जरा आदि जानना चाहिए ।

कायोत्सर्गकेभी छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद है- सावद्य नाम करनेसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नामकायोत्सर्ग है । अथवा किसीका नाम कायोत्सर्ग रखना नामकायोत्सर्ग है । पापपूर्ण स्थापनासे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह स्थापनाकायोत्सर्ग है । अथवा कायोत्सर्ग परिणत प्रतिबिम्ब स्थापनाकायोत्सर्ग है । सावद्य द्रव्य के सेवनसे लगे अतीचारकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह द्रव्यकायोत्सर्ग है । अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करकनेवाले शास्त्रका ज्ञाता जो उसमें उपयुक्त नहीं है वह आगत द्रव्यकायोत्सर्ग है । उस ज्ञाताका शरीर, तथा उसके कर्म, नोकर्म और भविष्यमें कायोत्सर्गका होनेवाला ज्ञाता जीव

क्षेत्रकायोत्सर्गः । सावद्यकालाचरणाद्यारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसहित कालो वा कालकायोत्सर्ग । मिथ्यावद्यतीचारशोधनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तस्तज्ज्ञानं जीवप्रदेशा वा भावकायोत्सर्ग इति ॥ ७० ॥

अथ कायोत्सर्गस्योत्तम मध्यम जघन्यपरिणामनिरूपणार्थमाह-

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूतोऽल्पा समोत्तमा ।

श्लेषा गाथात्र्यशचिन्तात्मोच्छ्वारसै नैकधा मित्ता ॥ ७१ ॥

अन्तर्मुहूर्तः-समयाधिकामावलिकामादि कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्कालः । अल्पा-जघन्या । समा-वर्षम् । गाथेत्यादि-गाथाया णमो अरहंताण अत्यादिकायाः त्र्यशास्त्रिभागो द्वे द्वे एकं च नमस्कारपदं तच्चिन्ता आत्मा स्वरूप गाथान्यंशचिन्तात्मा स चासावृच्छ्वासश्च । तत्र णमो अरहंताण णमो सिद्धाण इति पदद्वयचिन्तनमें उच्छ्वासः । एवं णमो आयरियाण णमो उवज्झायाण इति चिन्तनं द्वितीय । तथा णमो लोए सब्ब साहूण इति चिन्तनं तृतीयः । एवं गाथायास्त्रिया चिन्तने त्रय उच्छ्वासाः । नवघा चिन्तने सप्तविंशतिरित्यादिकल्पनया परिगणनीयम् । उक्तं च-

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मुलक्षमा ।

सन्ति पड्ढमस्कारे नवघा चिन्तिते सति ।। (अमित. श्राव. ८/६९)

ये नो आगम द्रव्यकायोत्सर्ग हैं । सावद्य क्षेत्रके सेवनसे लगे हुए दोषोकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह क्षेत्रकायोत्सर्ग है । अथवा कार्यात्सर्ग करनेवाले महर्षियोंसे सेवित क्षेत्र क्षेत्रकायोत्सर्ग है । सावद्य कालमें आचरण करनेसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए किया गया कायोत्सर्ग कालकायोत्सर्ग है । अथवा कायोत्सर्ग करने वालोसे सहित कालको कालकायोत्सर्ग कहते हैं । मिथ्यात्व आदि सम्बन्धी अतिचारोंके शोधनके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भावकायोत्सर्ग है । अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करनेवाले शास्त्र जो ज्ञाता उस शास्त्रमें उपयुक्त है वह आगम भावकायोत्सर्ग है । उसका ज्ञान या उस जीवके प्रदेश नो आगम भावकायोत्सर्ग है । इस तरह छह भेद हैं ।। ७० ।।

आगे कायोत्सर्गके उत्तम, मध्यम और जघन्य परिमाण को कहते हैं-

कायोत्सर्गका जघन्य यकाल अन्तुमुहुर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष प्रमाण है । शेष अर्थात् मध्यकालका प्रमाण गाथाके तीन अशोकेचिन्तनमें लगनेवाले उच्छ्वासोंके भेदसे अनेक प्रकार है ।। ७१ ।।

विशेषार्थ- एक समय अधिक आवलीसे लेकर एक समय कम मुहुर्तको अन्तर्मुहुर्त कहते हैं । यह कायोत्सर्गका जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है जैसा बाहुबलीने किया था । मध्यमकाल अन्तर्मुहुर्त और वर्षके मध्यकालकी अपेक्षा दो मुहुर्त, एक पहर, एक दिन आदिके रूपमें अनेक प्रकार है । कहा है - कायोत्सर्गका उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहुर्तु है । शेष कायोत्सर्ग शक्तिकी अपेक्षा अनेक स्थानोंमें होते हैं । वह अनेक भेद इस प्रकार होते हैं-णमोकार मन्त्र गाथारूप होनेसे गाथासे णमोकार मन्त्र लेना चाहिए । उसके तीन अंश हैं-णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं एक, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाणं दो और णमो लोए सब्बसाहूणं तीन । इनमें से प्रत्येकके चिन्तनमें एक उच्छ्वास

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।

सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ।। --मूलाचार ७/१५९

मध्यमावित्यर्थः । यदाह-

अस्ति वर्षं समुत्कृष्टो जघन्योऽन्तर्मुहूर्ततः ।

कायोत्सर्गः पुनः शेषा अनेकस्थानेमागताः ॥ ७१ ॥

अथ दैवसिकादिप्रतिक्रमणकायोत्सर्गसूच्छ्वाससंख्याविशेषनिर्णयार्थमाह-

उच्छ्वासः स्युस्तनुत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु ।

पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतुःपञ्चशतपमाः ॥ ७२ ॥

नियमान्ते-वीरभक्तिकरणकाले । अष्टशतं-अष्टभिरधिकं शतम् । अर्थ-चतुःपञ्चशत् ।

उक्तं च-

आह्निकेऽष्टशतं रात्रिभवेऽर्धं पाक्षिकेतथा ।

नियमान्तेऽस्ति संस्तेर्यमृच्छ्वासांशतत्रयम् ॥

चतुःपत्रशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसंभवे ।

इत्युच्छ्वासास्तनूत्यर्गे पत्रस्थानेषु निश्चिताः ॥ () ॥ ७२ ॥

लगता है । अतः पूरे मन्त्रका एक बार चिन्तनतीन उच्छ्वासोंमें होता है । नौ बार चिन्तन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं । आचार्य अमितगतिने कहा है - नौ बार पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करनेपर सत्ताईस उच्छ्वास संसारका उन्मूलन करनेमें समर्थ हैं । उच्छ्वास अर्थात् प्राणवायुका लेना निकालना । उच्छ्वासका यह लक्षण कायोत्सर्गके उत्कृष्ट और जघन्य प्रमाणमें भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए ॥ ७१ ॥

दैनिक आदि प्रतिक्रमण और कायोत्सर्गोंमें उच्छ्वासोंकी संख्या निर्णय करते हैं-

दैवसिक आदि पाँच प्रतिक्रमणोंके अवसरपर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें क्रमशः एक सौ आठ, चउवन, तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं । अर्थात् दिन सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ, रात्रि सम्बन्धी कायोत्सर्गम चउवन पाक्षिकमें तीन सौ, चातुर्मासिकमें चार सौ और वार्षिकमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं ॥ ७२ ॥

विशेषार्थ-मूलाचारमें कहा है-दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ उच्छ्वास करने चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चउवन उच्छ्वास करने चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें तीन सौ उच्छ्वास करने चाहिए । ये वीरभक्ति के अन्तमें प्रसादरहत होकर करना चाहिए । चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चार सौ उच्छ्वास और वार्षिक प्रतिक्रमणमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं । इस प्रकार पाँच स्थानोमे

र्तगः भ. कु. च. ।

नगा मताः भ. कु. च. ।

संस्थेय-भ. कु. च. ।

अट्टसदं देवसियं कल्लद्व पक्खियं च तिण्णि सया ।

उस्साया कायव्वा णियमंते अप्पमत्तंण ।।

चाउम्मासे उदरो सदाइं संवस्थरे य पंचसदा ।

काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ।। - गा. ७/ १६०-१६१ ।

अथ प्रस्त्रावादिप्रतिक्रमणास्वर्हच्छायादिवदनायां स्वाध्यायादिषु च कायोत्सर्गोच्छ्वाससंख्यातविशेष-
निश्चयार्थाह-

मूत्रोच्चारध्वभक्तार्हत्साधुशय्याभिवन्दने ।

पत्राग्रा विशतिस्ते स्युः स्वाध्यायादौ च सप्रयुक् ।। ७३ ।।

उच्चारः-पुरीषोत्सर्गः । अध्वा- ग्रामान्तरगमनम् । भक्तं-गोचारः । अर्हच्छय्या-जिनेन्द्रनिर्वाण-
समवसृति केवलज्ञानोत्पत्ति-निष्क्रमण-जन्मभूमिसानानि । साधुशय्याः-श्रमणनिषिद्धिकास्थानानि ।

स्वाध्यायादी-आदिशब्देन ग्रन्थादिप्रारम्भे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ बन्दनायां मनोविकारे च
तत्क्षणोत्पन्ने ।

उक्तं च-

ग्रामान्तरेऽन्नपानेऽहंत्साधुशय्याभिवन्दने ।

प्रस्त्रावे च तथोच्चारं अच्छ्वासाः पत्रविातिः ।।

स्वाध्यायोदेशनिदेशे प्रणिधानेऽथ वन्दने ।

सप्तविशतिरुच्छ्वासा कायोत्सर्गोऽभिसंमताः ।। ()

कायोत्सर्गोके उच्छ्वास जानने चाहिए । इतने उच्छ्वासपर्यन्त कायोत्सर्ग किया जाता है । श्वेताम्बरीय
आवश्यक भाष्यमें कहा है कि इन पाँचोंमें कायोत्सर्गके उच्छ्वासोंका प्रमाण नियत है शेषमें अनियत है ।।
७२ ।।

मूत्र त्याग मलका त्याग करके एक गाँवसे दूसरे गाँव पहुँचनेपर, भोजन करनेपर, अर्हत् शय्या
और साधुशय्याकी वन्दना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उसका प्रमाण पचीस उच्छ्वास है ।
स्वाध्याय आदिमें जो कायोत्सर्ग किया जाता है । उसके उच्छ्वासोंका प्रमाण सत्ताईस होता है ।। ७३ ।।

विशेषार्थ-मूलाचारमें कहा है-खान पान सम्बन्धी प्रतिक्रमणके विषयमें जब साफ गोचरीसे लौटे तो
उसे पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेपरपचीस उच्छ्वास
प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । अर्हत् शय्या अर्थात् जिनेन्द्रके निर्वाणकल्याणक, समवसरण, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान, तपकल्याणक और जन्म भूमि के स्थानपर वन्दनाके लिए जानेपर पचीस
उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । साधुशय्या अर्थात् किसी साधुके समाधिस्थानपर जाकर

लौटनेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । तथा मूत्रत्याग या मलत्याग करने यपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । किसी ग्रन्थको प्रारम्भ करते समय प्रारम्भ किये हुए

देसिअ-राईअ-पक्खिअ चाउम्मासिय तहेच वरिसे अ ।

एएसु होति निअया अस्सगा सेसा ॥ ३२३४ ।

भत्ते पाणे गाभंतरे य अरहंतसयण सेज्जामतु ।

उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होति उस्सा ॥

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिघाणे ।

सत्तावीसुस्सासा काओसग्गहिय कादव्वा ॥ -मूला. ७/१६३-१६४ ।

उद्देशो ग्रन्थादिप्रारम्भः । निर्देश प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तिः । प्रणिधानं
मनोविकारोऽशुभपरिणामस्तत्क्षणोत्पन्न इत्यर्थः । यत्तुं-

जन्तुघातानुतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे ।

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासाः कायोत्सर्गाः प्रकीर्तिताः ॥ ()

इति सूत्रं वचस्तच्चशब्देन समुच्चीयते ॥ ७३ ॥

अथ व्रतारोपण्यादिप्रतिक्रमणासूच्छ्वाससंख्यानिर्देशार्हमाह-

या व्रतारोपणी सार्वतिचारिक्यातिचारिकी ।

औत्तमार्थी प्रतिक्रन्तिः सोच्छ्वासैराहिकी सभा ॥ ७४ ॥

आहिकी सभा । वीरभक्तिकालेऽष्टोत्तरशतोच्छ्वासकायोत्सर्ग इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अथाहोरात्रस्वाध्यायादि विषयकायोत्सर्गसंख्यासंग्रहार्थमाह-

स्वाध्याये द्वादशोष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे- ।

कायोत्सर्गा योगभक्ति द्वौ चाहोरात्रगोचराः ॥ ७५ ॥

अहोरात्रगोचराः- सर्वे मिलिता अष्टविंशतिः । एते च विभरागेभोत्तरत्र व्यवहरिष्यन्ते ॥ ७५ ॥

अथ कायोत्सर्ग घ्यानयिवशेमुपसर्गपरिषहसहनं च नियमयन् कर्मनिर्जरणातिशयं
फलत्वेनोदिशति-

ग्रन्थकी समाप्ति होनेपर, सतईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । इसी तरह स्वाध्याय और वन्दनामें भी सताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । मनमें विकार उत्पन्न होनपर तत्क्षण सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए । प्राणिबध सम्बन्धी असत्यालाप सम्बन्धी चोरीसम्बन्धी मैथुनसम्बन्धी और परिग्रहसम्बन्धी दोष लगनेपर १०८ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

मूलाचारकेइस कथनका ग्रहण ग्रन्थकारने च शब्दसे किया है ॥ ७३ ॥

आगे व्रतारोपण आदि सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंमें उच्छ्वासकी संख्या बतलाते हैं-

व्रतारोपण सम्बन्धी सर्वातिचार सम्बन्धी अतिचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ सम्बन्धी प्रतिक्रमणोमें उच्छ्वासोंकी संख्या दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी उच्छ्वासोंकेसमान १०८ होती है ।। ७४ ।।

विशेषार्थ-पहले श्लोक ५८ में प्रतिक्रमणके सात भेद कहे हैं । इनका स्वरूप वहाँ बतलाया है ।
उन्होंने उच्छ्वासोंका प्रमाण यहाँ दैवसिक सप्रतिक्रमणकी तरह १०८ कहा है ।। ७४ ।।

आगे दिन-रात में स्वाध्याय आदि सम्बन्धी कायोत्सर्गोंकी संख्याकी बतलाते हैं-
स्वाध्यायमें बारह, बन्दनामें छह, प्रतिक्रमणमें आठ और योगभक्तिमें दो, इस तरह दिन-रातमें अट्ठाईस कायोत्सर्ग आचार्योंने माने हैं ।। ७५ ।।

विशेषार्थ-इनका विभाग ग्रन्थकार आगे करेंगे ।। ७५ ।।

आगे कर्मोंकी सातिशय निर्जरा रूप फल्के लिए कायोत्सर्गमें ध्यान विशेषका तथा उपसर्ग और परीषहोंको सहनका उपदेश करते हैं-

पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय ।

अट्टसदं उस्सासा काओसगग्घि कादव्वा ।। - मूलाचार ७/१६२

व्युव्सृजय दोषान् निःशेषान् सदध्यानी स्यात्तनूत्सृत्तौ ।

सहेताऽप्युपसर्गोमीन कर्मैवं भिद्यते तराम् ।। ७६ ।।

दोषान्- ईर्यापथाद्यतीचारान् कायोत्सर्गमलान् वा । सदध्यानी-धर्म्य शूक्लं वा ध्यानमाश्रित
एतेनालस्याद्यभाव उक्तः स्यात् ।

उक्तं च-

कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम् ।

निःशेषं तत्समानीय धर्म्य शूक्लं च चिन्तयेत् ।। ()

भिद्यतेतराम् । स्तवाद्यपेक्षया प्रकर्षोऽत्र । उक्तं च-

उपसर्गस्तनूत्सर्ग श्रितस्य यदि जायते ।

देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सहयो मुमुक्षुणा ।।

साधोस्तं सहमानस्य निष्कमीभूतचेतसः ।

पतान्त कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वतः ।।

यथाडःनि विभीद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः ।

कर्माण्यपि तथा सद्यः संचितानि तनुभृताम् ।

यचिनां कुवैतां भक्त्या तनुत्सर्गमदूषणम् ।

कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटि-भ्रमार्जितस् ।। () ॥७६॥

अथ नित्यनैमित्तिककर्मकाण्डनिष्ठस्य योगिनः परम्परया निःश्रेयसप्रतिलभ्यमभिद्यत्ते-

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मुलयन् कर्मणा

योऽभ्यासेनल विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः ।

स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुरद्-

विश्वाकारसमप्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिधनुते ॥ ७७ ॥

समस्त ईर्यापथादिक अतिचारों अथवा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंका पूर्ण रीतिसे त्यागकर कायोत्सर्गमें स्थित मुमुक्षुको प्रशस्त धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही करना चाहिए । और उपसर्ग तथा परीषहोंको सहना चाहिए । एह्युइ करनेसे ज्ञानावरणादि कर्म स्वयं ही विगळित हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

विशेषार्थ-यदि कायोत्सर्ग करते समय देवकृत, मनुष्यकृत या तियचकृच कोई उपसर्ग आ जाये तो उसे सहना चाहिए और ऐस समयमें भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही ध्याना चाहिए । जो साधु परिषह और उपसर्गसे विचलित न होकर उसे धीरता पूर्वक सहन करता है उसका कर्मबन्धन शिथिल होकर छूट जाता है । जो साधु भक्तिपूर्वक निर्दोष कायोत्सर्ग करते हैं उनके पूर्वभवोंमें अर्जित कर्म शीघ्र ही निजीर्ण हो जाते हैं अतः कायोत्सर्ग सावधानीसे करना चाहिए ॥ ७६ ॥

आगे कहते हैं कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाकाण्डमें निष्ठ योगी परम्परसे मोक्ष लाभ करता है --

ऊपर कहे अनुसार नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापका मूलसे निरसन करते हुए तीनों गुप्तियोंके आश्रयसे अर्थात् मन वचन और कायये व्यापारको सम्यक् रूपसे निगृहीत करके जो अभ्यासके द्वारा ज्ञानको निर्मल बनाते हुए परिपक्व करता है वह योगी प्रोद्बुद्ध अर्थात् अपुनर्जन्मरूप लक्षणके द्वारा अभिव्यक्त, स्वभावसे ही निर्मल, और परम आनन्दसे

इतरेण-नैमित्तिकेन । अभ्यासेन । कर्तरि तृतीया ॥ ७७ ॥

अथ षडावश्यकशेष सुगृहन् कृतिकर्मसेवायां श्रेयोर्थिन व्यापारयति-

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति ।

विनयेयन यथाजात- कृतिकममिलं भजेत् ॥ ७८ ॥

योग्याः-समाधये प्रभवन्त्यः । यथाविहिता इत्यर्थः इ तथैवोत्तरप्रबन्धेनानुपूर्वशी व्याख्यास्यन्ते । यथाजातः-बाहाभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्त । संयमग्रहणक्षणे निर्ग्रन्थत्वेन पुनरुत्पादात् । कृतिकर्म-कृतेः पापकर्मछेदनस्य कर्म अनुष्ठानम् ॥ ७८ ॥

अनुबिद्ध तथा जिसमें समस्त लोकालोकके आकार प्रतिबिम्बित हैं ऐसे समग्र द्रव्यपर्यायोंसे निबद्ध ज्ञानसे रमणीय कैवल्यको-निर्वाणको प्राप्त करता है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ-जबजक साधु अभ्यास दशामें रहता है तबतक दोषोंकी विशुद्धिके लिए उसे नित्य और नैमित्तिक कर्म करने होते हैं। किन्तु ये कर्म कर्मकेलिए नहीं किये जाते, अकर्मा होनेकेलिए किये जाते हैं। इसीलिए इन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए मन, वचन और कायके समग्र व्यवहारको निगृहीत करके मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका अवलम्बन लेना होता है। यदि ऐसा न हो तो कोरे क्रियाकाण्डसे पापका निरसन नहीं हो सकता। क्रियाकाण्डके समयमें भी साधुके कर्मचेतनाकी प्रधानता नहीं होती ज्ञानचेतनाकी ही प्रधानता होती है उसीसे पाप क्षय होता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानचेतनाकी प्रधानता होती जाती है त्यों-त्यों आनावरणादि कर्मोंका क्षय होकर ज्ञानमें निर्मलता आती जाती है। उसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होकर निर्वाणकी प्राप्ति होती है। निर्वाण दशामें समग्र द्रव्यपर्यायोंको जाननेवाला केवलज्ञान अनन्त सुखके साथ रिला-मिला हुआ रहता है उससे मुक्तावस्थामें परम प्रशान्तिरूप प्रमोदभाव रहता है। इसके साथ ही मुक्त आत्माको जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा मिल जाता है। अतः मोक्षका लक्षण पुनर्जन्मका न होना भी है। अतः योगीको याधक दशामें नित्य-नैमित्तिक कृत्य अवश्य विधेय है। अन्य दर्शनोंमें भी ऐसा ही कहा है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार आवश्यक प्रकरण समाप्त होता है।

आगे षडावश्यकसे अवशिष्ट कृतिकर्मका संग्रह करते हुए अपने कल्याणके इच्छुक मुमुक्षुओंको कृतिकर्मका सेवन करनेकी प्रेरणा करते हैं-

यथाजात अर्थात् संयत ग्रहण करते समय बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे मुक्त निर्ग्रन्ध रूपको धारण करनेवाले साधुको समाधिके लिए उपयोगी काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनति-नमस्कारसे युक्त बत्तीस दोष रहित कृतिकर्मको बिनयपूर्वक करना चाहिए ॥ ७८ ॥

विशेषार्थ-कृति अर्थात् पापकर्मके छेदनके कर्म अर्थात् अयनुष्ठाको कृतिकर्म कहते हैं। यह कृतिकर्म बत्तीस दोष टालकर करना चाहिए। तथा योग्य काल, आसन, आदि उसके अंग है। आगे इनका कथन करेंगे ॥ ७८ ॥

नित्यनैमित्तिकैरेव कूर्वाणी दूरितक्षयम्।

ज्ञानं च विमलीकुर्वत्रभ्यासेन तु पाचयेत् ॥

अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लाभते नरः।- प्रशस्तपादभाष्य - ब्योमवती टीका, पृ.२०।

अथ नित्यदेववन्दनायां त्रैकाल्यपरिमाणमाह-

तिस्त्रैऽहोऽन्त्या निशश्राद्या नाडयो व्यत्यासिताश्र ताः।

मध्याहस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने ॥ ७९ ॥

निशः-रात्रेः । व्यत्यासिताः-दिवसस्य प्रथमास्तिस्त्रो घटिका रात्रेश्च पश्चिमास्तित्र इति ।
पूर्वाहदेववन्दनायामृत्कषैण घटिकाषट्ककालः । एवं मध्याहदेववन्दनायां मध्यदिनघटिकाषट्कम् ।
अपराहदेववन्दनाया च दिवसस्यान्त्यास्तित्री घटिका रात्रेश्वाद्यास्तित्र इति घटिकाषट्कमुत्कर्षः कालः
कलनीयः ।

उक्तं च-

मुहुर्तत्रितयं कालः सन्ध्यानां त्रितये बुधैः ।

कृतिकर्मविधिर्नित्य परो नैमित्तिको मतः ॥ () ॥ ७९ ॥

अथ कृतिकर्मणि योग्यासनावसायार्थमाह इ

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः ।

तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्यासनाद्यपि ॥ ८० ॥

यत्र-देशे पीठे च । येन-पद्यासनादिना । उक्तं च-

आस्थते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः ।

तदासनं विवाहव्य देशपदमासनविकम् ॥ (अमि. श्रा. ८/३८) ॥ ८० ॥

सर्व प्रथम नित्य देववन्दनाके सम्बन्धमे तीनों कालोकां परिमाण कहते है-

नित्यवन्दनाके तीन काल है-पूर्वाळ, अपराध और भध्याध । इनका परिमाण इस प्रकार है-दिनके
आदिकी तीन घड़ी और रात्रिके अन्तकी तीन घड़ी, इस तरह छह घड़ी पूर्वाहयवन्दनाका काल है । दिनके
अनतकी तीन घड़ी और रात्रिके आदिकी तीन घड़ी इस तरह, छह घड़ी अपराहयवन्दनाका काल है तथा
मध्याहकी छह घड़ी मध्याहवन्दनाका काल है ॥ ७९ ॥

विशेषार्थ- यह वन्दनाका उत्कृष्ट काल है । एक घड़ीमें चौबीस मिनट होते हैं अतः छह घड़ीमें
एक घण्टा चवालीस मिनट होते हैं । तीनों सन्ध्याकालोमें दिन और रातकी सन्धिके समय ७२-७२ मिनट
दोनोंके लेकर देववन्दना करनी चाहिए । अर्थात् प्रातःकालके समय जब रात्रि तीन घड़ी शेष यहो तब
देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए । और सायंकालके समय जब दिन तीन घड़ी शेष यहो तब देववन्दना
प्रारम्भ करनी चाहिए । इसी तरह मध्याहमें जब पूर्वाहका काल तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ
करनी चाहिए । कहा है-तीनों सन्ध्याओंमें नित्य कृतिकर्म विधिका उत्कृष्ट काळ तीन-तीन मुहुर्त माना है
॥ ७९ ॥

आगे कृतिकर्ममें योग्य आसनका निर्णय करते हैं--

वन्दनाके लिए उद्यत साधु वन्दनाकी सिद्धिके लिए जिस देश और पीठपर बैठता है उसके योग्य
आसनको देश और पीठ कहते है । तथा वह साधु जिस आसनसे बैठता है उस पद्यासन आदिको भी
आसन कहते हैं ॥ ८० ॥

विशेषार्थ- आसनसे यहाँ बैठने का देश तथा उसमें बैठनेके लिए रखा गया आसन तो लिया ही गया है साथ ही वन्दना, करनेवाला अपने पैरोंको जिस तरह करके बैठता है उस पद्यासनआदिको भी लिया गया है। कहा है-वन्दनाकेलिए तत्पर साधू जहाँ बैठता है और जिस रीतिसे बैठता है उस देश और पद्यासन आदिको आसन जानना चाहिए ॥ ८० ॥

अथ वन्दनायोग्यं प्रदेशमुपदिशति-

विविक्तः प्रासुकत्स्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः ।

पूण्यो रम्यः सतां सेव्यः श्रेयो देशः समाधिचित् ॥ ८१ ॥

संक्लेशा-रएिगंद्वेषाद्याः । क्लेशाः-परिषहोपसर्गाः । पुण्यः-सिद्धक्षेत्रादिरूपः- । रम्यः-
चित्तनिवृत्तिकरः । सतां-मुमुक्षुणाम् । समाधिचित्-प्रशस्तध्यानवर्धक । उक्तं च --

संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तुणपाश्वादिदूषितः ।

विक्षोभको हषीकाणां रुपगन्धरसादिभिः ।।

परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः ।

असंबद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः ।।

आर्दी भूती मनोऽनिष्ट समाधाननिष्पूदकः ।

योऽशिष्टजनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥

विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः ।

देवर्जुष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणाः ।।

जनसंचारनिर्मुको ग्राहयो देशो निराकुलः ।

नासन्नो नातिदूरस्थः सर्वोपद्रववर्जितः ।। (अमि. श्रा. ८/३९-४२) ।। ८१ ।।

अथ कृतिकर्मयोग्यं पीठमाचष्टे-

आगे वन्दनाके योग्य देशको कहते हैं-

वन्दनाके लिए उद्यत साधुको वन्दनाकी सिद्धिके लिए ऐसे प्रदेशको अपनाना चाहिए जो शुद्ध होनेके साथ अवांछनीय व्यक्तियोंसे रहित हो, निर्जन्तुक हो, संक्लेशके कारण राग-द्वेष आदिसे तथा कष्टके कारण परीषल-उपसर्ग आदिसे रहित हो, सिद्धक्षेत्र आदि पूण्यभूमि हो, चित्तको शान्तिकारक हो, मुमुक्षुओंके द्वारा सेवनीय हो और प्रशस्त ध्यानको बढ़ाने वाला हो ॥ ८१ ॥

विशेषार्थ- अमितगति श्रावकाचार (८/३९-४३) में वन्दनाके योग्य देशका वर्णन कुछ विस्तारसे किया है। लिखा है-जहाँ स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ हो, साँप आदिके विलोंकी बहुतमायत हो, घास-घुल आदि से दूषित हो, रूप-रस-गन्ध आदि के द्वारा इन्द्रियोंको क्षोभ करनेवाला हो, डाँस-मच्छर-शीत, वायु-धाम आदिसे परिषहकारक हो, जहाँ मनुष्योंका असम्बद्ध बार्तालाप चलता हो, पापयुक्त आरम्भसे निन्दनीय हो, गीला हो, मनके लिए अनिष्ट हो, चित्तकी शान्तिको नष्ट करनेवाला हो, जहाँ असभ्य जनोंका

आवागसन हो ऐसे प्रदेशमें वन्दना नहीं करनी चाहिए । जो स्थान एकान्त हो, प्रासुक हो, सेवन योग्य हो, समाधानको बढ़ानेवाला हो, जहाँ जिनबिम्ब आदिकी सीधी दृष्टि नहीं पढ़ती हो, उसके दक्षिण ओर हो, मनुष्यों के आवागमन से रहित हो, न अतिनिकट हो और न अतिदूर हो, समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित हो, ऐसा निराकुल देश अपनाने योग्य है ॥ ८१ ॥

आगे कृतिकर्मके योग्य पीठ बतलाते हैं-

विजेन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम् ।

स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम् ॥ ८२ ॥

स्थेयः-निश्चलम् । तार्णादि-तृणकाष्ठशिलनादिमयम् ॥ ८२ ॥

अथ वन्दनायोग्यं पद्यासनादित्रयं लक्षयति-

पद्यासनं श्रिती पादौ जड्वाभ्यामुत्तराघरे ।

ते पर्यङ्गासनं न्यस्तावूर्वी वीरासनं कमौ ॥ ८३ ॥

श्रिती -संश्लिष्टी । उत्तराघरे-उत्तराघर्येण स्थापिते । ते-जड् । ऊर्वोः-सक्थनोरुपरि ।

उक्तं च-

त्रिविध पद्मपर्यङ्गवीरासनस्वभावकम् ।

आसानं यत्नतः कार्यं विदधानेन वन्दनाम् ॥

तत्र पद्मासनं नादौ जड्वाभ्यां श्रयतो यते : ।

तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्गः।सनमिष्यते ॥

ऊर्वोरुपरि कुर्वाणः पादन्यासं विधानतः ।

वीरासनं यतिर्धन्ते दुष्कर दीनदेहिनः ॥ ()

वन्दनाकी सिद्धिके लिए तत्पर साधूको तृण, काष्ठ या पाषाणसे बना ऐसा आसन लेना चाहिए जिसमें खटमल आदि जन्तु न हों, न उसपर बैठनेसे चरमर आदि शब्द हो, छिद्र रहित हो, स्पर्श सुखकर हो, ककील-काँटा न गड़ता हो, स्थिर हो-हिलता-डुलता न हो तथा विनयको बढ़ानेवाला हो अर्थात् न बहुत ऊँचा हो और न ऊपरको उठा हुआ हो ॥ ८२ ॥

आगे वन्दनाके योग्य तीन आसनोंको स्वरूप कहते हैं-

जिसमें दोनों पैर जंघासे मिल जाये उसे पद्यासन कहते हैं । और दोनों जंघाओको ऊपर नीचे रखनेपर पर्यकासन होता है । तथा दोनों जंघाओसे ऊपर दोनों पैरोंके रखनेपर वीरासन होता है ।

विशेषार्थ-भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराण में पर्यकासन और कायोत्सर्ग को सुखासन कहा है और इनसे भिन्न आसनोंको विषमासन कहा है । साथ ही यह भी कहा है कि ध्यान करनेवाले

मुनिके इन दोनों आसनोंकी प्रधानता रहती है। और उन दोनोंमें भी पर्यकासन अधिक सुखकर माना जाता है। किन्तु उन्होंने पर्यकासनका स्वरूप नहीं बतलाता।

सोमदेव सूरिने आसनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा है - जिसमें दोनों पैर दोनो धुटनोंसे नीचे दोनों जंघाओंपर रहते हैं वह पद्यासन है। जिसमें दोनों पैर दोनों धुटनोंसे

स्थेयोऽच्छिद्रं सुखस्पर्श विशब्दमप्यजन्तुकम् । तृणकाष्ठादिकं ग्राह्य बिनयस्योपवृहकम् ॥ -अभि.श्रा.८/४४

वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सूखासनम् ।

कायोत्सर्गश्च पर्यउस्तोनदिमासनम् ॥

तदवस्थाद्वयस्थैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः ।

प्रायस्तत्रापि पत्युमायन्ति सुखासनम् ॥ - महापु. २१/७१-७२ ।

संन्यस्ताभ्यामधोधिभ्यामवोरुपरि युयुक्तितः ।

भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्यबीरसुखासनम् ॥ - उपासकाध्ययन ७३२ श्लोक ।

अन्ये त्वाहूः-

जङ्घाया जङ्घ्याश्लिष्टे मध्यभाग प्रकीर्तित् ।

पद्मासनं सुखाधायि सुसाधं सकलैर्जनैः ॥

बुधैरुपर्यधीभागे जङ्घोरुभयोरपि ।

समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्गासनमासनम् ॥

ऊर्वोरपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति ।

वीरासनं चिरं कत शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥ (अभि. श्रा. ८/४५-४७)

अपि च-

जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घाया

पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥ (योगशास्त्र ४/१२९)

स्याज्जङ्घोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।

पर्यङ्गी नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक ॥

वार्माऽर्धदक्षिणोरुर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिणः ।

क्रियते यत्र तद्वीरोचित्रं वीरासनं हितम् ॥ (योगशास्त्र ४/१२५-१२६) ॥ ८३ ॥

ऊपर रहते हैं वह वीरासन है। और जिसमें दोनों पैरोंकी गाँठे बराबरमें रहती हैं वह सुखासन है।

आचार्य अमितगतिने कहा है-समभागमें उंधासे जंघाका गाढ़ सम्बन्ध पद्यासन है। यह सुखकारक होनेसे सब लोगोंके द्वारा सरलतासे किया जा सकता है। समस्त दोनों जंघाओको ऊपर-

नीचे रखनेपर पर्यकासन होता है। दोनों पैरोको दोनों ऊपर रखनेपर वीरासन होता है। इसे वीर पुरुष ही चिरकाल तक कर सकते हैं, कायर नहीं कर सकते। आचार्य हेमचन्द्र (श्वे.) ने कहा है-दोनों जंघाओके नीचेके भागको दोनों पैरोंके ऊपर रखनेपर तथा दोनों हाथोंको नाभिके पास ऊपरको करके बायें हाथपर दाहिना हाथ रखना पर्यकासन है। जिसमें बायाँ पैर दक्षिण ऊरुके ऊपर और दाहिना पैर बायें ऊरुके ऊपर रखा जाता है। उसे वीरासन कहते हैं। यह वीरोंके योग्य है। और जिसमें जंघाका दूसरी जंघाके याथ मध्य भागमें माढ़ सम्बन्ध होता है, उसे पद्यासन कहते हैं।

पं. आशाधरजीने उक्त मतोंको अपनी टीकामें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं ऐसा लिख्काकर उद्धृत किया है। और अपने लक्षणोंके समर्थनमें कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।

पं. आशाधरजीने इन्हीं तीनों लक्षणोंको एक श्लोकमें निबद्ध किया है। इनमें वीरासनके लक्षणमें तो मतभेद नहीं है। सभीने दोनों पैरोको दोनों घुटनोंसे ऊपर जो ऊरु है उसपर रखकर बैठनेको वीरासन कहा है। शेष दोनों आसनोंके लक्षणोंमें मतभेद प्रतीत होता है। सोमदेवने पर्यकासनको ही सुखासन कहा है ऐसा प्रतीत होता है। अभितगति पद्यासनको सुखसाध्य बतलाते हैं। उन्होंने उसका जो लक्षण किया है वह है भी सुखसाध्य। दोनों जंघाओंको मिलाकर बैङ्गना सरल है। कठिनता तो पैरोंको जंघाओंके ऊपर रखनेमें होती है। हेमचन्द्र भी पद्यासनका यही लक्षण करते हैं। आजकल जो जिनमूर्तियाँ देखी जाती हैं उनके आसनको पर्यकासन कहा जाता है। उनके दोनों चरण दोनों जंघाओंके ऊपर स्थित होते हैं। किन्तु यह आसन सुखासन नहीं है। दोनों जाँघोको परस्परमें संश्लिष्ट करके बैठना

अथ वन्दनायां स्थानविशेषनिर्णयार्थमाह-

स्थीयते येत तत्स्थानं वन्दनायां द्विया मनम् ।

उद्वीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम् ॥ ८४ ॥

निषद्या-उपवेशनम् । उक्तं च-

स्थीयते येत तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहुतम् ।

वन्दना क्रियते यस्मादुद्वीभूयोपविश्य वा ॥ () ॥ ८४ ॥

अथ कृतिकर्मयोग्यं मुद्राचतुष्टयं व्याचिख्यासुजिनमुद्रारयोगमुद्रलोलक्षणुन्मुद्रयति-

मुद्राश्रतस्त्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जनीह यौगिकी ।

न्यस्तं पश्चासनाद्यडके पाण्योरुतनयोद्वयम् ॥ ८५ ॥

व्युत्सर्गस्थितिर्जनी । प्रलम्बितभुजेत्यादिना प्रागुक्ता बिनमुद्रा ।

उक्तं च-

जिनमृदान्तरं कृत्वा पादयोश्चतूरघृलम् ।

ऊर्ध्वजानाश्वस्थान प्रलम्बितभूजद्वयस् ॥ (अमि. श्रा. ८/५३)

यौगिकी-योगमृदा । उक्तं च-

जिनाः पश्चासनादीनामडःमध्ये निवेशनस् ।

उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ।। (अभि.श्रा. ८/५५) ।। ८५ ।।

अथ वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रां च निदिशति-

स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्षरी मुकुलीकृती ।

करी स्याद् वन्दनामुदा मुक्ताशुक्तिर्युताडःगुली ।। ८६ ।।

स्थितस्य-उद्वस्य । अध्युदरं- उदरस्योपरि । युताडःली । मुकुलोकृती करावेच संलग्नाडुःलिकौ
स्थितस्य पूर्ववत् मुक्ताशुक्तिनमि मुद्रा । उक्तं च-

सरल होता है । या बायें पैरके ऊपर दायें पैर रखकर बैठना सुखासन है जैसा सोमदेवने कहा है ।। ८३ ।
।

आगे वन्दनाके स्थान विशेषका निर्णय करते हैं-

वन्दना करनेवाला जिस रूपसे स्थिर रहता है उसे स्थान कहते हैं । वे स्थान दो माने गये हैं ।
एक खड़े होना, दूसरा बैठना । वन्दना करनेवालेको उनमें-से अपनी शक्तिके अनुसार कोई एक स्थानका
उपयोग
करना चाहिए ।। ८४ ।।

कृतिकर्मके योग्य चार मुद्राएँ होती हैं । उनमें-से जिनमुद्रा और योगमुद्राका लक्षण कहते हैं-

मुद्रा चार होती है । उनमेंसे कायोत्सर्कसे खड़े होना जिनमुद्रा है । तथा पद्यासन या पर्यकासन
या वीरासनसे बैठकर गोदमें दोनों इथेलियोको ऊपर की ओर करके स्थापित करना योगमुद्रा है ।। ८५ ।।

विशेषार्थ-कृतिकर्मके योग्य मुद्राओंमे-से यहाँ दो मुद्राओंका स्वरूप कहा है । अमितगति आचार्यने
भी कहा है-दोनों पैरोंके मध्यमे चार अंगुलका अन्तर रखकर तथा दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लटकाकर
खड़े होना जिनमुद्रा है ।। ८५ ।।

आगे वन्दनामुद्रा अथौर मुक्ताशुक्तिमुद्राका स्वरूप कहते हैं-

खड़े होकर दोनों कोहनियोंको पेटके ऊपर रखकर तथा दोनों हाथोंको मुकुलित करना

मृकुलीकृतमाधाय जठरोपरी कूर्परम् ।

स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदितम् ।। (अमि. श्रा. ८/५४)

तथा-

मुक्ता शुक्तिर्मता मूद्रा जठरोपरि कूर्परम् ।

ऊर्ध्वजानीः करद्वन्द्वं संलग्नांगुलि सुरिभिः ।। (अमि. श्रा. ८/५६) ।। ८६ ।।

अथ मुद्राणां यथाविषयं प्रयोगनिणयार्थमाह-

स्वमुदा वन्दने मुक्ताशुक्ति सामायिकस्तवे ।

योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ॥ ८७ ॥

स्वमुद्रा-वन्दनामुद्रा प्रयोक्तव्येव्युपस्कारः । सामायिकस्तवे-सामायिकं च णमो अरहंताणमित्यादि दण्डकः, स्तवश्च थोस्सामीत्यादि दण्डकः । (सामायिक च स्तवश्च) सामायिकस्तवस्तस्मिन् । आस्यया-उपवेशनेन । तनूज्झने-क्रियमाणे । स्थित्या-उद्धीभावेन ॥ ८७ ॥

अथावर्तस्वरूपनिरूपणार्थमाह-

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते ।

साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोडःगी संयतं परावर्त्यम् ॥ ८८ ॥

शुभयोगपरावर्तान्-शुभा हिंसादिरहितत्वात् प्रशस्ता योगा मनोवाक्काव्यापारास्तेषां परवर्ताः पूर्वावसात्यागेनावस्थान्तरप्रापणानि । आद्यन्ते-आरम्भे समाप्तौ च । साम्यस्य-णमो अरहंताणमित्यादि सामयिकदण्डकस्य । स्तवस्य-थोस्सामीत्यादिदण्डकस्य । मनोडुःगीः-चित्तकायवाचम् । संयत-निरद्वपापव्यापारम् । मनोडुःगीःसंयतमिति वा समस्तम् । तत्र मनोडुःगिरां संयतं संयमनमिति विग्रहः । परवर्त्य- अवस्थान्तर नेतव्यं वन्दनोद्यतैरिति शेष । तद्यथा-सामायिस्यादी क्रियाविज्ञापनं विकल्पत्यागेनश्च तदुच्चारणं प्रति मनसः प्रणिधानं संयतमनःपरवर्तनमुच्यते : तथा भूमिस्पर्शलक्षणावतिक्रिया वन्दनामुद्रात्यागेन पूनरुत्थितस्य मुक्ताशुक्तिमुद्राडितहस्तद्वक्ष्यपरिभ्रमणत्रयं संयतकायपरवर्तनमाख्याते ।

वन्दना मुद्रा है । तथा इसी स्थिती में दोनों हाथोंकि अँगुलियोंको परस्परमें मिलाना मुक्ता शुक्तिमुद्रा है । ॥ ८६ ॥

आगे इन चार मुद्राओंमें से कब किस मुद्राका प्रयोग करना चाहिए, यह बताते हैं-

आवश्यक करनेवाले को वन्दना करते समय वन्दनामुद्राका प्रयोग करना चाहिए । णमो अरहंताण इत्यादि सामायि दण्डक तथा थोस्सामि इत्यादी चतुर्विंशतिस्तवके समय मुक्ताशुक्तिमुद्राका प्रयोग करना चाहिए । इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खडे होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्राको धारण करना चाहिए ॥ ८७ ॥

विशेषार्थ-आवश्यक करते समय मुद्राका प्रयोग करना आवश्यक है । हिन्दु पुराणोंमें तो मुद्राके अनेक भेद कहे हैं आवैर लिखा है कि जो दैविक कर्म बिना मुद्राके किया जाता है वह निष्फल होता है (देखो-शब्दकल्पदुममें मुद्रा शब्द) ॥ ८७ ॥

आगे आवर्तका स्वरूप कहते हैं-

शुभयोगके परिवर्तनको आवर्त कहते हैं । वे आवर्त सबारह होते हैं । क्योंकि वन्दनश करनेवालोंको सामायिक और स्तवके आदि और अत्नमें मयन, वचन और कायको पापाचारसे रोककर शुभ आचारमें लगाना चाहिए ॥ ८८ ॥

विशेषार्थ-मन, वचन और कायके व्यापारको योग कहते हैं । हिंसा आदिस रहित होनेसे प्रशस्त योगको शुभयोग कहते हैं । उनके परवर्तको अर्थाम् पूर्व अवस्थाको त्यागकर

चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोमि इत्याद्युच्चारणविरामेण णमो अरहंताण इत्याद्युच्चारणकरण संयतवाक्परवर्तनमभिधीयते । एवं सामायिकदण्डकस्य तत्त्रयं कल्प्यम् । तथैव च स्तवदण्डकस्यादावत्ने च पृथक् तत्त्रयमवसेयम् । इति समुदितानि चत्वारि तत्त्रयणि द्वादशावर्ता एकस्मिन् कायोत्सर्गे भवन्ति । एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धादेवपादैराचारटीकायां दुओ णदं जहाजादं इत्यादीसुत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यम् ।

तथैव चान्वाख्यातं क्रियाकाण्डेऽपित-

द्वे नते साम्यनुत्यादौ भ्रमास्त्रिस्त्रियोगगाः ।

त्रिस्त्रिभ्रंगे प्रणामश्च साम्ये स्तवे मुखान्तयोः ॥

एतदेव चामितगातिरप्यश्न्वाख्यात्-

कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम् ।

स्वतसामायिकाद्यन्तपरार्वनलक्षणाः ॥ (अमि. श्रा. ८/६५)

इदं चात्राचारटीकाव्याख्यानमवधार्यम्-

चतसृषु दिक्ष् चत्वारः प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे । एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवन्तीति ॥

(मूलाचार गा. ६०१ टीका) ॥ ८८ ॥

अथ वृद्धव्यवहारानुरार्ध हस्तपरावर्तनलक्षणान्नावर्तानुपदिशति-

अवस्थान्तर धारण करनेको आवर्त कहते हैं, वे बारह होते हैं । क्योंकि सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमें किये जाते हैं । अतः २X३X२=१२ होते हैं । अथवा मनोदृगीः और संयतको समस्त करना चाहिए । उसका अर्थ होगा-मन,शरीर और वाणीका संयमना अर्थात् सामायिकके प्रारम्भ और समाप्तिमें मन, वचन, कायका संयमन करना चाहिए । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-सामायिक दण्डकके आदिमें विकल्पो को त्यागकर उसके उच्चारणके प्रति मन लगाना संयतमनपरावर्तन है । तथा भूमिका स्पर्श करते हुए वन्दनामुद्रापूर्वक जो नमनक्रिया की जाती है उसे त्यागकर पुनः खड़ा होकर दोनों होथोको मुक्ताशुक्तिमुद्रामें स्थापित करके तीन बार धूमनेयको संयतकायपरावर्तन कहते हैं । चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोमि इत्यादी उच्चारण करके णमो अरहंताणं इत्यादी उच्चारण करनश संयतवाक्परावर्तन है । इस प्रकार सामायिक दण्डकके प्रारम्भमें शुभयोग परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं । इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव दण्डकके आदि और अन्तमें भी तीन-तीन आवर्त करना चाहिए । इस प्रकार मिलकर ४X३=१२ आवर्त एक कायोत्सर्गमें होते हैं । यह सब कथन आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिकने मूलाचार गाथा दुओणद् जधा जादं (७/१०४५) की टीकामें लिखा है । संस्कृत क्रियाकाण्डमें भी ऐसा ही कहा है- अर्थात् सामायिक और चतुर्विंशतिस्तवके आदि और अन्तमें दो नमस्कार मन-वचन-काय सम्बन्धी तीन-तीन आवर्त और चारों दिशाओंमें से प्रत्येक दिशामें तीन-तीन आवर्तके पीछे एक प्रणाम होता है ।

आचार्य अमितगतिने भी ऐसा ही कहा है- अर्थात् स्तव और सामायिकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायके परावर्तन रूप बारह आवर्त कहे हैं ।। ८८।।

इस प्रकार आवर्तका अर्थ तीनों योंगोंका परावर्तन होता है । किन्तु बृद्धजनोंके व्यवहारमें इसे हाथोका परावर्तन भी कहते हैं । इसलिए यहाँ उसका भी कथन करते हैं-

त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः ।

साम्यं पठित्वा भ्रमयेतो स्तवेऽपयेतत्त्वाचरेत् ।। ८९।।

पठेत्- साम्यमुच्चारयेदिति संबन्धः । भ्रमयेत्-पुनस्त्रीन बारानावर्तयेदिति संबन्ध । उक्तं च चारित्रसारे-व्युत्सर्गतपोवर्णनप्रस्तावे-क्रियां कुर्वाणो वीर्योपगुहनमकृत्वा शक्त्यनुरूपतः स्थितन असक्तः सन् पर्यङ्कः।सनेन वा त्रिकराशुद्धया संपुटीकृतकरः क्रियाविज्ञापनपूर्वक सामायिकदण्डकमुच्चारयन् तदावर्तत्रयं यथाजातशिरोनमनमेकं भवति । अनेन प्रकारेण सामायिकदण्डकसमाप्तावपि प्रवर्त्य यथोक्तकालं जिलगुणानुस्मरणसहीत कायव्युत्सर्ग कृत्वा द्वितीयदण्डकस्यादावन्ते च तथैव प्रवर्तताम् । एकमेकस्य कायोत्सर्गस्य द्वादशावर्ताश्चत्वारि शिरोवनमनानि भवन्ति इत्यादि ।। ८९।।

अथ शिरोलक्षणमह-

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नत्रमत् क्रियते शिरः ।

यत्पाणिकुडमलाङ्कः तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः ।। ९०।।

नन्नमत्- भृशं पुनः पुनर्वा नमत् । प्रणमदिति वा पाठः । क्रियायां-चैत्यभक्त्यादिकायोत्सर्ग-विषये । चतुः-चतरो वारान् । सामायिकदण्डकस्य आदावन्ते च तथा स्तवदण्डकस्य चावर्तत्रयप्रयोगोत्तर-कालं शिरोवनमनविधानात् । अथवा चतुर्णां शिरसां समाहारश्चतुः शिर इति व्यचाख्येयम् ।। ९०।।

अथ चैत्यभक्त्यादिषु प्रकारान्तरेणाप्यावर्तशिरसां संभवोपदेशार्थमाह-

आवश्यक करनेवाले साधुको णमो अरहंताण इत्यादी सामायिकदण्डकका उच्चारण करनेसे पहले दोनो हाथोंको मुकुलित करके तीन बार घुमाना चाहिए । फिर सामायिक पाठ पढ़ना चाहिए । पढ़ चुकनेपर पुनः उसी तरह दोनों हाथोको मुकुलित करकेतीन बार घुमाना चाहिए । स्तवदण्डककेआदि और अन्तमें भी ऐसा ही करना चाहिए ।। ८९।।

विशेषार्थ- चारित्रसारमें व्युत्सर्ग तपके वर्णनमें लिखा है- कृमिकर्म करते हुए अपनी शक्तिको न छिपाकर शक्तिके अनुसार खड़े होकर या अशक्त होनेपर पर्यकासनसे बैठकर मन-वचन-कायको शुद्ध करके दोनों हाथों मुकुलित करे । फिर क्रियाविज्ञापनपूर्वक सामायिक दण्डकका उच्चारण करते हुए तीन आवर्त और एक बार सिरका नमन करे । उसी प्रकार सामायिक दण्डककी समाप्ति होनेपर करे तथा यथोक्त काल तक जिनभगवान्के गुणोंका स्मरण करते हुए कायेत्सर्गको करके स्यदण्डकके आदि और अन्तमें भी ऐसा ही करे । इस प्रकार एक कायोत्सर्ग के बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं ।

अथवा एक प्रदक्षिणा करनेपर प्रत्ययंक दिशामें तीन आवर्त और एक नमस्कार इस तरह चारों दिशाओमें बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं । यदि इससे अधिक हो जायें तो कोई दोष नहीं है ॥ ८९ ॥

आगे शिरोनतिका स्वरूप कहते हैं-

चैत्यभक्ति आदि कायोत्सर्गके विषयमेयं तीन-तीन आवर्तके पश्चात् दोनों हाथोको मुमुलित करके मस्तकसे लगानेपर जो चार बार भक्तिपूर्वक नमस्कार किया जाता है उसे शिरोनति कहते है । क्योंकि सामायिकदण्डकके आदि और अन्तमें तथा स्तवदण्डकके आदि और अन्तमें तीन आवर्तके पश्चात् सिरको नमन करनेका विधान है ॥ ९० ॥

चैत्यभक्ति आदिमें आवर्त और शिरोनति दूसरी तरहसे भी होते हैं । उसीको आगे बतलाते हैं-

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्ररेत् ।

त्रीनावर्तान् शिरश्रैकं तदाधिक्यं न दुष्यति ॥ ९१ ॥

प्रतिभ्रमरि-एकैकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे । अर्चादिस्तुतौ-चैत्यादिभक्तौ । दिश्येकशः- एकैकस्यां पूर्वादिति । शिरः-करमुकुलाङ्कितशिरःकरणम् । उक्तं च-

चतुर्दिक्षु विहारस्य परीवर्तास्त्रियोगगाः ।

प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च ॥ ()

तदाधिक्यं-आवर्तानां शिरसां चोक्तप्रमाणादधिकीकरण प्रदक्षिणात्रये तत्संभवात् । उक्तं च चारित्रसारे- एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतत्रः शिरोवतनतयो भवन्ति । आवर्तानां शिरः प्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषायेति ॥ ९१ ॥

अथोक्तरस्यैव समर्थनार्थमाह-

दीयते चैत्यनिवर्पाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि ।

वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिण ॥ ९२ ॥

स्पष्टम् ॥ ९२ ॥

अथ स्वमतेन परमतेन च नतिनिर्णयार्थमाह-

अथवा चैत्यआदि भक्तिमें प्रत्येक प्रदक्षिणामें एक-एक दिशामें तीन आवर्त और दोनों हाथोंको मुकुलित करके मस्तकसे लगाना इस प्रकार एक शिर करना चाहिए । इस तरह करनेसे आवर्त और शिरोनतिका आधिक्य दोषकारक नहीं होता ॥ ९१ ॥

विशेषार्थ-ऊपर दो प्रकार बतलाये है । एक प्रकार है सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमे तीन आवर्त और एक शिरोनति करना । इस तरहसे बारह आवर्त और चार शिरोनति होते हैं । दुसरा इस प्रकार है चारों दिशाओमें-से प्रत्यंक दिशामें प्रदक्षिणाके क्रमसे तीन आवर्त और एक शिरोनति । इस

तरह एक प्रदक्षिणामें बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं। किन्तु इस तरह तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तो और शिरोनतिकयी संख्या बढ़ जाती है। किन्तु इसमें कोई दोष नहीं है। चारित्रसारमेशं ऐसा लिखा है जो हम पहले लिख आये है ॥ ९१ ॥

आगे इसीका समर्थन करते हैं-

क्योंकि चैत्यवन्दना, निर्वाणवन्दना, योगिवन्दना, और नन्दीश्वर वन्दना करते समय उन-उन भक्तियोंको पढ़ते हुए साधुगण प्रदक्षिणा दिया करते हैं ॥ ९२ ॥

विशेषार्थ- चैत्यवन्दना करते समय चैत्यभक्ति, निर्वाणवन्दना करते समय निर्वाणभक्ति, योगिवन्दना करते समय योगिभक्ति और नन्दीश्वर वन्दना करते समय नन्दीश्वरीशक्त साधुगण पढ़ते हैं। और पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करते हैं जिससे चारों दिशाओंमें स्थित चैत्य आदिकी वन्दना हो सके। अतः प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक नमस्कार करते हैं। तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तो और नमस्कारकी संख्या तिगुनी हो जाती है जो दोष नहीं है ॥ ९२ ॥

आगे गन्थकार अपने और दुसरे आचार्योंके मतसे शिरोनतिका निर्णय करते हैं-

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्रादौ शरीरमनात्रती ।

वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिद्विश्वे नमनान्मते ॥ ९३ ॥

शरीरनमनरत्-पत्रपादुःप्रणमनात् भूमिस्पर्शादित्यर्थः । कैश्चित्-स्वामिसमन्तभद्रादिभिः । मते द्वे नती इष्टे । यथाहुस्तत्रभवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां चतु रावर्तस्त्रितय इत्यादिसूत्रे द्विनिषद्य व्याख्याने देववन्दना कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति ॥ ९३ ॥

सामायिक दण्डक और चतुर्विंशतिस्तवके आदिमें पंचांग नमस्कारपूर्वक दो नमस्कार करना चाहिए। किन्तु स्वमी समन्तभद्र आदिने वन्दनाके आदि और अन्तमें बैठकर नमस्कार करनेसे दो नति मानी है ॥ ९३ ॥

विशेषार्थ-मूलाचार में कहा है-एक कतिकर्ममें दो नति, यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर और तीन शुद्धियाँ होती हैं। इन सबका स्पष्टीकरण पहले किया गया है। श्वेताम्बर आगममे भी दो नयति, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्तिके अतिरिक्त दो प्रवेश और एक निष्क्रमण इस तरह सब २५ आवश्यक कृतिकर्ममें बतलाये हैं। यह गुरु वन्दनाके क्रममें बतलाये गये हैं। षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डमें भी क्रियाकर्मके नामसे आता है-तमादाहीण पदाहिण तिव्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं वारसावत्तं तं सव्वं क्रिरिया कम्मं णाम-पु.१३, पृ. ८८। धवलामें जो इसकी व्याख्या दी है उसका आवश्यक अनुवाद दिया

जाता है - आत्मधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार अवनति, चार शिर, बारह आवर्त ये सब क्रियाकर्म हैं।

आत्माधीन होना आदिके भेदसे क्रियाकर्म छह प्रकारका है। उनमें-से क्रियाकर्म करते समय आत्मधीन होना पराधीन न होना आत्मधीन है। वन्दना करते समय गुरु, जिन, जिनालयकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। प्रदक्षिणा और नमस्कार आदिका तीन बार करना त्रिकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु और ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है इसलिए त्रिकृत्वा कहा है। ओणद का अर्थ अवनमन या भूमिमें बैठना है। यह तीन बार किया जाता है इसलिए तीन बार अवनमन कहा है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-शुद्धमन होकर, पैर धोकर, और जिनेन्द्रके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकित वदन होकर जो जिनदेवके आगे बैठना यह प्रथम अवनमन है। जो उठकर जिनेन्द्र आदिकी विनति करके बैठना यह दूसरा अवनमन है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धिपूर्वक कृषायसहित शरीरका त्याग करके जिनेन्द्रदेवके अननन्त गुणोंका ध्यान करके चौबीस तीर्थकरोंकी वन्दना करके फिर जिन-जिनालय और गुरुओंकी स्तुति करके भूमिमें बैठना यह तीसरा अवनमन है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्ममें तीन ही अवनमन होते हैं। सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-सामायिकके आदिमें जिनेन्द्रदेवको सिर नमाना एक सिर है। उसीके अन्तमें सिर नवाना दूसरा सिर है। स्थोस्सामिदण्डकके आदिमें सिर नवाना तीसरा सिर है। उसीके अन्तमें सिर नवाना

अथ प्रणामभेदनिर्णयार्थं श्लोद्वयमाह-

योगैः प्रणामस्त्रेघाऽर्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः ।

कं करो ककरं जानुकरं ककरजानु च ॥ ९४ ॥

नम्रमेकद्वित्रिचतुःपत्राङ्कः कायिकः क्रमात् ।

प्रणामः पत्रधावाचि यथास्थानं क्रियते सः ॥ ९५ ॥

कंमस्तकम् । नम्रमेकाङ्कः इत्यादी । योश्च (?) ककरं- कं करो चेति द्वन्द्वः ॥ ९४ ॥ सः ।

उक्तं च-

मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनिः ।

ज्ञानादीनां जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मतः ॥ ()

एकाङ्कः नमने मूर्ध्ना द्व्यङ्कः स्यात् करयोरपि ।

त्र्यङ्कः करशिरोनामे प्रणामः कथितो जिनैः ॥ ()

चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। अथवा सभी क्रियाकर्म चतुःशिर अर्थात् चतुःप्रधात होता है क्योंकि अरहन्त, सिद्ध साधु और धर्मको प्रधान करके सब क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। सामायिक और स्थोस्सामि दण्डकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायकी विशुद्धि परीवर्तनके

बार बारह होते हैं । इसलिए एक क्रियाकर्मको बारह आवर्तवालाक कहा है । इस सबका नाम क्रियाकर्म है । स्वामी समन्तभद्रने उक्त कथनोंको ही दृष्टिमें रखकर सामायिक प्रतिमाका स्वरूप कहा है - उसमें भी बारह आवर्त, चतुःशिर यथाजात, त्रिशुद्धपद तो समान है । धवलामें तिक्खुत्तोका एक अर्थ दिनमें तीन बयार किया है । यहाँ भी त्रिसन्ध्यमभिवन्दी कहा है । केवल द्विनिषिद्य पद ऐसा है जो उक्त दोनों सूत्रोंमें नहीं हैं । रत्नकरण्डके टीकाकार प्रभाचन्द्रके उसका अर्थ किया है - दो निषद्या - उपवेशन है जिसमें, अर्थात् देववन्दनया करनेवालेको प्रारम्भमें और अन्तमें बैठकर प्रणाम करना चाहिए । इसीका मतभेदको रूपमें उल्लेख ग्रन्थकार आशाधरजीने ऊपर किया है । षट्चखण्डागतसुत्रमें भी इस दृष्टिसे भिन्न मत है । उसमें तियोणद अर्थात् तीनवार अवनमन कहा है । अवनमनका अर्थ है भूमिस्पर्श । निषद्याका भी अभिप्राय उसीसे है । इस तरह क्रियाकर्मकी विधिमें मामूली-सा मतभेद है ॥ ९३ ॥

आगे दो श्लोकोंकेद्वारा प्रणामकेभेद कहते हैं-

मन, वचन, और कायकी अपेक्षा प्रणामके तीन भेद हैं, क्योंकि अर्हन्त सिद्ध आदिके ज्ञानादि गुणोंका कीतन मन वचन काय तीनोंकेद्वारा किया जाता है । उनमे-से शारीरीक प्रणामके पाँच प्रकार हैं- मस्तकका नम्र होता एकांग प्रणाम है । दोनों हाथोंका नम्र होना दोअंग प्रणाम है । दोनों हाथोंका मस्तककेसाथ नम्र होना तीन अंगी प्रणाम है । दोनों हाथों

करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनोषिभिः ।
करजानुशिरोनामे पत्राङ्गः परिकीर्त्यते ॥
प्रणामः कायिको ज्ञात्वा पत्रधेति मुमुक्षुभिः ।
विधातव्यो यथास्थानं जिनसिद्धादिवन्दने ॥ () ॥ ९५ ॥

अथ क्रियाप्रयोगविधी नियमयत्राह-

कालूष्यं येन जातं तं क्षमयित्वैव सर्वतः ।
सङ्घोऽच्च चिन्तां व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलीर्थिना ॥ ९६ ॥
कालूष्यं-क्रेधाद्यावेशवशाच्चित्तस्य क्षोभः । येनेति करणै सहार्थे वा तृतीया । यथाह-
येन केनापि संपन्नं कालूष्यं देवयोगतः ।
क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्तव्यावश्यकक्रिया ॥ () ॥ ९६ ॥

अथ अमलमिति विशेषण व्याचष्टे-

दोषैर्द्वात्रिंशता स्वस्य यद्व्ययुत्सर्गस्य चीज्झितम् ।
त्रियोगशुद्धं क्रमवन्निर्मलं चित्तिकर्म तत् ॥ ९७ ॥

स्वस्य देववन्दनात्मनो । दोषैः-अनादृतादिभिः । व्युत्सर्गस्य-कायोत्सर्गस्य । दोषैः- घोटकादिभिः । क्रमवत्- प्रशस्तक्रमम् । क्रमविशुद्धमित्यर्थः । चित्तिकर्म-चित्तेस्तीर्थकत्वादिपूण्यार्जनस्य कर्म क्रिया जिनादिवन्दनेत्यर्थः ॥

उक्तं च-

दुओणदं जहाजादं वारसावत्तमेव या
चदुस्सरं तिसुद्धं च किदियम्भं पउज्जदे ॥

तिविहं तियरणसुद्ध मयरहियं दुविहटाण पुण्फरुत्तं ।

विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥ (मूलाचार गा. ६०१-२)

और दोनों धुटनोंका नम्र होना चार अंगी प्रणाम है । दोनों हाथोंको मस्तकसे लगाकर दोनों धुटनोंके साथ नम्र होना पंचांगी प्रणाम है । अर्थात् शरीरके एक अंग मस्तक, दो अंग दोनों हाथ, तीन अंग दोनों हाथ और मस्तक, चार अंग दोनों हाथ और दोनों घुटने तथा पाँच अंग दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर दोनों घुटनोंको भूमिसे लगाना ये एकांग, दो अंग, तीन अंग, चार अंग और पंचांग प्रणाम हैं । यह शारीरीक प्रणाम कृतिकर्म करनेवाले यथास्थान करते हैं ॥ ९४-९५ ॥

आगे कृतिकर्मके प्रयोगकी विधि बताते हैं-

कर्मोंकी निर्जरारूप फल और तीर्थकरत्व आदि पुण्यका उपार्जन करनेके इच्छुक मुमुक्षुको जिसके साथ क्रोध आदिके आवेशसे चित्तको क्षोभ उत्पन्न हुआ हो उससे क्षमा कराकर तथा समस्त परिग्रहसे मनको हटाकर कृतिकर्म करना चाहिए ॥ ९६ ॥

पहले इसी अध्यायके ७८ वें श्लोकमें कृतिकर्मको अमल कहा है उस अमल विशेषण को स्पष्ट करते हैं-

जो अपने बत्तीस दोषोंसे और कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंसे रहित हो, मन-वचन-कायकी शुद्धिको लिये हो, कमसे विशुद्ध हो, उसे पूर्वाचार्य निर्मल चितिकर्म कहते हैं ॥ ९७ ॥

विशेषार्थ- जिन आदिकी वन्दनासे पुण्यकर्मका अर्जन होता है इसलिए उसे चितिकर्म भी कहते हैं । जो चितिकर्म अपने बत्तीस दोषोंसे तथा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंसे रहित होता है, मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक होता है और जिसमें क्रमभंग नहीं होता,

किदियम्मं पि कुण्ती ण होदि किदियम्मणिज्जराभागी ।

बत्तीसाणण्णदरं साहुटाण विराहंतो ॥ (मूलाचार गो. ६०८) ॥ ९७ ॥

अथ चतुर्दशभिः श्लोकैर्द्वात्रिंशद् वन्दनादोषांल्लक्षयति-

अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धतिः ।

स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥ ९८ ॥

हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शं परिपीडितम् ।

दोलायितं चलन् कायो बोलावत् प्रत्ययोऽथवा ॥ ९९ ॥

भालेऽदृशवदङ्घ्रिं विन्यासोऽडःशितं मतम् ।

निषेदुषः कच्छपवद्विदुः कच्छपरिचितम् ॥ १०० ॥

मत्स्योद्धतैः स्थितिर्मत्स्योद्धतवत् त्वेकपाश्रतः ।

मनोदुष्टं खेदकृतिगुवद्युपरि चेतसि ॥ १०१ ॥

देदिबद्धं स्तनोंत्पोडो दोन्या वा जानुबगनधनम् ।

भयं क्रिया सप्तभ्यादबिन्यता बिभ्यतो गुरोः ॥ १०२ ॥

भक्तो गणो मे भावीति वनदारोऋद्धिगौरवम् ।

गौरवं स्वस्य महिमभ्याहारादावथ स्पृहा ॥ १०३ ॥

अनादृतं-मल इति मध्यदीपकेन दोष इत्यन्तदशीपकेन वा योज्यम् ॥ ९८ ॥ दोलावत्-दोलायामिव
दोलारुद्धस्येव वा । प्रत्ययः । चलन्-इत्येव चलन्ती प्रतीतिः संशय इत्यर्थः ॥ ९९ ॥ रिङ्-ः-रिङ्खणम् ।
कच्छपरिङ्-ः- कूर्मवच्चेष्टिम् ॥ १०० ॥ मत्स्योद्धर्तवत् । एकपार्श्वतः स्थिती/-कटिभागोद्धर्तनेनाव-स्थानम्
॥ १०१ ॥ वेदिबद्धं-वेदिकाबद्धं नाम दोषः । स्तनोत्पीडः- स्तनयोः प्रपीडनम् । जानुबन्धनं-

जिसके पश्चात् जो क्रिया करनी चाहिए वही क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म निर्दोष माना गया है ।
मूलाचारमें कहा है-ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंके भेदसे अथवा दो नति, बारह, आवर्त और चार शिरके भेदसे,
अथवा-कृत-कारित अनुमोदनाके भेदसे अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दनाके भेदसे अथवा
पंचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तवके भेदसे कृति कर्मके तीन भेद हैं । मन-वचन-कायकी विशुद्धिसे
युक्त अथवा दो नति बारह आवर्त और चतुश्चिर क्रियासे विशुद्ध जाति आदिके मदसे रहित, पर्यक और
कायोत्सर्ग रूपमें पुनरुक्त-जिसमें बार-बार ही क्रिया की जाती है, और जो क्रमसे विशुद्ध है ऐसे
कृतिकर्मको विनयपूर्वक करना चाहिए । किन्तु यदि साधु बत्तीस दोषोंमें-से किसी भी एक दोषसे
घिराधना करता है तो वह साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्मसे होनेवाली निर्जराका अधिकारी नहीं
होता ॥ ९७ ॥

आगे चौदह श्लोकोंकेद्वारा बत्तीस दोषोको कहते हैं-

समस्त आदर भावसे रहित वन्दना करना अनाहत नामक प्रथम दोष है । जाति आदिके भेदसे
आठ प्रकारके मदसे युक्त होना स्तब्ध नामक दूसरा दोष है । अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके अतिनिकट होना
प्रविष्ट नामका तीसरा दोष है ॥ ९८ ॥

अपने हाथोसे घुटनोंका संस्पर्श करना परिपीडीत नामक चतुर्थ दोष है । झुलनेकी तरह
शरीरको आगे-पीछे करते हुए वन्दना करना दोलायित नामक पाँचवाँ दोष है । अथवा जिसकी स्तुति
करता हो उसमें, स्तुतिमें अथवा उसके फलमें सन्देह होना दोलायित दोष है ॥ ९९ ॥

योगषट्पुरुषेण । सप्तभ्यात्-मरणादिभयसप्तकाद् हेतोः । विभ्यतः कर्म विभ्यदोष इत्यर्थः ॥ १०२ ॥ गणः-
चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघः । भावी-भविष्यति । वनदारोः-वन्दनां साधुत्वेन कुर्वतः । गौरवं शेषगौरवमित्यर्थः ॥
१०३ ॥

स्याद् वन्दने चोरिकया गुर्वदेः स्तेनितं मलः ।

प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रतिकूल्यतः ॥ १०४ ॥

प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा ।
तर्जिवं तर्जनानयेषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥ १०५ ॥
शब्दो जल्पक्रियाऽन्येषामुपहासादि हेलितम् ।
त्रिवलितं कटिप्रीवा हद्भट्टो भुकुटिर्नवा ॥ १०६ ॥
करामर्शोऽथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुट्टितम् ।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यत्स्वन्येषु सुष्टु वा ॥ १०७ ॥

अपने मस्तकपर अकुंशही तरह अँगुठा रखकर वन्दना करना अंकुशित नामका छठा दोष है । वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुँएकी तरह सरकना, कटिभागको इधर-उधर करना कच्छपरिगित नामका सातवाँ दोष है ॥ १०० ॥

जैसे मछली एक पार्श्वसे उछलैती है उसी तरह कटिभागको उचकाकर वन्दना करना मत्स्योद्वर्त नामक आठवाँ दोष है । गुरु आदिकेऊपर चित्तमें आक्षेप करना मनोदृष्ट नामक नौवाँ दोष है ॥ १०१ ॥

वेदोंके आकारमें दोनों हाथोसे बायें और दायें स्तनप्रदेशोको दबाते हुए वन्दना करना या दोनों हाथोसे दोनों घुटनोंको बाँधते हुए वन्दना करना बेदिकाबद्ध नामक दसवाँ दोष है । सात प्रकारके भयोंसे डरकर वन्दना करना भय नामक ग्यारहवाँ दोष है । आचार्यके भयसे कृतिकर्म करना बारहवाँ विभ्यता नामक दोष है ॥ १०२ ॥

चार प्रकारके मुनियोंका संघ मेरा भक्त बन जायेगा यह भावना रखकर वन्दना करनेवाले साधुके ऋद्धिगौरव नामक बारहवाँ दोष होता है । अपने माहात्म्यकी इच्छासे या आहार आदिकी इच्छासे वन्दना करना गौरव नामक चौदहवाँ दोष होता है ॥ १०३ ॥

गुरु आदिकी चोरीसे छिपकर वन्दना करनेपर स्तेनित नामक पन्द्रहवाँ दोष होता है । प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञा न मानना प्रतिनीत नामक सोलहवाँ दोष है ॥ १०४ ॥

लड़ाई-झगड़ेकेद्वारा यदि किसीके साथ द्वेषभाव उत्पन्न हुआ हो तो मन, वचन, कायसे उससे क्षमा न माँगकर या उसे क्षमा न करके वन्दना करनेपर प्रदुष्ट नामक सतरहवाँ दोष है । अपनी तर्जनी अंगुलि हिला-हिलाकर शिष्य आदिको भयभीत करना अथवा आचार्य आदिके द्वारा अपनी तर्जना होना तर्जित नामक अठारहवाँ दोष है ॥ १०५ ॥

वार्तालाप करते हुए वन्दना करना शब्द नामक उन्नीसवाँ दोष है । दूसरोंका उपहासादि करना या आचार्य आदिका वचनसे तिरस्कार करके वन्दना करना हेलित नामक बीसवाँ दोष है । मस्तकमें त्रिवली डालकर वन्दना करना इक्कीसवाँ त्रिवलित दोष है ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ-मूलाचार ७/१०८ की संस्कृत टीकामें शब्ददोषके स्थानमें पाठान्तर मानकर शास्य दोष भी गिनाया है । शठतासे अथवा प्रपंचसे वन्दना करना शाठ्य दोष है ॥ १०६ ॥

कुंचित हाथोंसे सिरकास्पर्श करते हुए वन्दना करना अथवा दोनों घुटनोंके बीचमें

अदृष्टं गुरुदृग्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् ।

विष्टिः संघस्पेयमिति श्रीः संघकरमोचनम् ॥ १०८ ॥

उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्ध तदाशया ।

होन न्ययुनाधिकं चूला चिरंणोत्तरचूलिका ॥ १०९ ॥

मूको मुखान्तर्वन्दारोहु ङ्ङःराद्यथ कुर्वतः ।

दुर्दरी ध्वनिनान्यषां स्वेनच्छादयतो ध्वनीन् ॥ ११० ॥

द्वार्त्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताहयसः ।

इति दोषोजिज्ञता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ॥ १११ ॥

द्विष्टे-कलहादिना द्वेषाविषयीकृते । अकृत्वा क्षमां-स्वयं क्षन्तव्यमकृत्वां तमक्षमयित्वा वा । कृतापराघस्य मनसि क्षमामनुत्याद्येत्यर्थः । तर्जना-प्रदेशनीपरावर्तनेन भयोत्पादनम् । सूरिभिः- आचार्या दिभिः ॥ १०५ ॥ जल्पक्रिया-वातादिकथनम् । उपहासादि । आदि शब्देनोद्घटनादि । भङ्गः-मोटनम् । भ्रुकुटिः-ललाटे दलित्रयेकरणम् ॥ १०६ ॥ करामर्शः- हस्ताभ्यां परामर्शः । पश्यन् । यदित्यध्याहार्यम् । पश्यत्सु । अपश्यत्सु न स्तौमीति भावः । सुष्ठु वा । परेषु पश्यत्सु सोत्साहं वन्दत इत्यर्थः ॥ १०७ ॥ विष्टिः-

सिर करके संकुंचित होकर वन्दनश करना बाईसवाँ कुंचित दोष है । दिशाकी और देशते हुए वन्दना करना दृष्टदोष है । अथवा आचार्य आदिके देखते रहनेपर तो वन्दना ठीक करना अन्यथा दिशाकी ओर ताकना तेईसवाँ दृष्टि है ॥ १०७ ॥

गुरुकी आँखोंसे ओझल होकर वन्दना करना अथवा प्रतिलेखना न करके वन्दना करना अदृष्ट दोष है । यह संघकी बडी जबरदस्ती है कि हठसे क्रिया करायी जाती है ऐसा भाव रखकर वन्दना करना पचीसवाँ संघकरमोचन नामक दोष है ॥ १०८ ॥

विशेषार्थ-मूलाचार (७/१०९) की संस्कृत टीकामें संघको कर चुकाना मानकर वन्दना करनेको संघकर मोचन दोष कहा है । अमितगति श्रावकाचार (८/८३) में भी करदानं गणेर्मत्वा से यही लक्षण किया गया ॥ १०८ ॥

उपकरण आदिके लाभ होनेसे आवश्यक क्रियाका करना आलब्ध नामक छब्बीसवाँ दोष हैं । उपकरण आदि की इच्छासे आवश्यक किया करना अनालब्ध नामका सत्ताईसवाँ दोष है । ग्रन्थ अर्थ और कालके प्रमाणके अनुसार वन्दना न करना हीन नामक अठाईसवाँ दोष है । वन्दनाको तो थोडे ही समयमें

करना और उसकी चूलिकारुप आलोचना आदिमें बहुत समय लगाना उत्तरचूलिका नामक उनतीसवाँ दोष है ॥ १०९ ॥

वन्दना करनेवाला मूककी तरह यदि मुखकेही भीतर पाठ करता है, जो किसीका सुनाई नहीं देता अथवा जो वन्दना करते हुए हुंकार या अंगुलि आदिसे संकेत करता है उसके मूक नामक तीसवाँ दोष होता है । अपनी आवाजसे दूसरोंके शब्दोंको दबाकार जो जोरसे वन्दना करता है उसके दर्दुर नामक इकतीसवाँ दोष होता है ॥ ११० ॥

वन्दना करते समय पाठको गाकर पंचमस्वरसे पढ़ना मुललित नामक बत्तीसवाँ दोष है । निर्जराके अभिलाषीको इस प्रकारके दोषोसे रहित वन्दना करनी चाहिए । अथवा यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है । अतः क्रियाकाण्ड आदिमें कहे गये इस प्रकारके अन्य वन्दना-दोष भी त्यागने चाहिए । जैसे शिरको नीचा करके या ऊँचा करके वन्दना करना, मस्तकके

हठात् कर्मविधापनम् ॥ १०८ ॥ उपध्याप्त्या-उपकरणादिलाभेन । हीनं मात्राहीनत्वात् । चूला चिरेण्सा-
वन्दनां स्तोककालेन कृत्वा तच्चूलिकाभूतस्यालोचनादेमहता कालेन करणम् ॥ १०९ ॥ मूकः-मूकाख्यो
दोषः ॥ ११० ॥ गीत्या-पङ्कमादिस्वरेण । इति प्रकाराथोऽयम् । तेनैवं प्रकाराः क्रियाकाण्डाद्युक्ताः । शिरोना-
मोत्राममूर्ध्दोपरिकरभ्रमणगुर्वोरगती भूत्वा पाठोच्चारणादयोऽपि त्याज्याः ॥ १११ ॥

अथैकादशभिः श्लोकैः कायोत्सर्गदोषान् द्वाविंशतं व्याचष्टे-

कायोत्सर्गमलोऽस्त्येकमूतित्क्षप्याङ्घ्रि वरारवत् ।

तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धघूतलतावच्चलतो लता ॥ ११२ ॥

स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टभ्य पट्टकः पट्टकारिदकम् ।

आरुह्य मालो मालावि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः ॥ ११३ ॥

श्रुङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा श्रुङ्खलितं स्थितिः ।

गुह्यं कराभ्यामावृत्य शवरीवच्छवर्यपि ॥ ११४ ॥

लम्बितं नमनं मूर्ध्निस्तस्योत्रितमुत्रमः ।

उत्रमध्य स्थितिवैक्षः स्तनदावत्स्तनोत्रतिः ॥ ११५ ॥

ऊपर दोनों हाथोंको धुमाना गुरुसे आगे होकर पाठका उच्चारण करना आदि । ऐसे अभी दोष त्यागने योग्य हैं ॥ १११ ॥

विशेषार्थ-मूलाचारमें अन्तिम दोषका नाम चुलुलित है । संस्कृत टीकाकारने इसका संस्कृतरुप चुरुलित किया है और लिखा है-एक प्रदेशमें स्थित होकर हाथोको मुकुलित करके तथा धुमाकर जो सबकी वन्दना करता है अथवा जो पंचम आदि स्वरसे वन्दना करता है उसके चुरुलित दोष होता है ॥ १११ ॥

आगे ग्यारह श्लोकोसे कायोत्सर्गकेबत्तीस दोष कहते है-

जैसे उत्तम घोडा एक पैरसे पृथ्वीको न छूता हुआ खडा होता है उस तरह एक पैर ऊपर को उठाकर खडे होना कायोत्सर्गका घोटक नामक प्रथम दोष है । तथा जो वायुसे कम्पित लताकी तरह अंगोको चलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामक दूसरा दोष होता है ॥ ११२ ॥

स्तम्भ, दीवार आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्गसे खड़े होना स्तम्भ नामका तीसरा दोष है । पटा और चटाई आदिपर खडे होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नामक चतुर्थ दोष है । सिरके ऊपर माला, रस्सी आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करना माला नामक पाँचवाँ दोष है ॥ ११३ ॥

पैरोंको साँकलसे बँधे हुए-की तरह करके कायोत्सर्गसे खड़े होना श्रृंखलित नामक छँटा दोष है । भीलनीकी तरह दोनों हाथोंसे गुहय प्रदेशको ढाँककर कायोत्सर्ग करना शबरी नामक सातवाँ दोष है ॥ ११४ ॥

विशेषार्थ- मूलाचार (७/१७१) की संस्कृत टीकामें भीलनीकी तरह दोनों जंघाओसे जघन भागको दबाकर कायोत्सर्ग करनेको शबरी दोष कहा है । किन्तु अमितगतिश्रावका चारमें दोनों हाथोसे जघन भागको ढाँकते हुए खडे होनेकी शबरी दोष कहा है । यथा कराभ्यां जघनाच्छादः किरातयुयवतेरिव-८/१० ॥ ११४ ॥

सिरको नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नामक आठवाँ दोष है । सिरको ऊपर

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनातश्रिवदन्तधृष्टयोध्वधिश्रलच्छिरः ॥ ११६ ॥
ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मृष्टि कपित्थवद् बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् ॥ ११७ ॥
शिरःप्रकम्पित संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
मूकवन्मूकित्ताख्यः स्यादङ्गुलीगणनाङ्गुली ॥ ११८ ॥
भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् धूणैर्न मदिरार्तवत् ।
उन्तत्त ऊर्ध्वै नयनं शिरोर्धेर्बहघाप्यङ्घ्रः ॥ ११९ ॥
निष्ठीवनं वपुस्पर्शो न्युनत्वं दिगवेक्षणम् ।
मायाप्रायारिथितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम् ॥ १२० ॥

उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामक नौवाँ दोष है । शिशुको स्तन फिलानेवाली स्त्रीकी तरह छाँतीको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोत्रति नामक दसवाँ दोष है ॥ ११५ ॥

विशेषार्थ-मूलाचार (७/१७१) संस्कृत टीकामें कायोत्सर्ग करते हुए अपने स्तानोंपर दृष्टि रखना स्तनदृष्टि नामक दोष कहा है । किन्तु अमितगति श्रावकाचारमें (८/९१) ऊपरकी तरह ही कहा है ॥ ११५ ॥

कायोत्सर्गमे स्थित होकर कौएँकी तरह तिरछे देखना वायस नामक ग्यारहवाँ दोष है । तथा लगामसे पीड़ित घोडेकी तरह दाँत कटकटाते हुए सिरको ऊपर-नीचे करना खलीनित नामक बारहवाँ दोष है ॥ ११६ ॥

विशेषार्थ-वायस कौएको कहते है और खलीन लगामको कहतें है ।

जुएसे पीड़ित बैलकी तरह गरदनको लम्बी करके कायोत्सर्गसे स्थित होनश युग नामक तेरहवाँ दोष है । कैथही तरह मुट्टी करके कायोत्सर्गसे खड़े होना कपित्थ नामक चौदहवाँ दोष है । कायोत्सर्गसे स्थित होकर सिर हिलाना शिरप्रकम्पित नामक पन्द्रहवाँ दोष है । कायोत्सर्गसे स्थित होकर गूँगेकी तरह मुख, नाक का विकृत करना मूक नामक सोलहवाँ दोष है ॥ ११७-११८ ॥

कायोत्सर्गसे स्थिर होकर भ्रुकुटियोंको नचाना भ्रक्षेप नामक अठारहवाँ दोष है । शराबीकी तरह धूमते हुए कायोत्सर्ग करना धूर्णन नामक उन्नीसवाँ दोष है । गरदनको अनेक प्रकारसे ऊँचा उठाना ऊर्ध्वनयन नामक बीसवाँ दोष है । गरदनको अनेक प्रकारसे नमाना अधोनयन नामक इक्कीसवाँ दोष है ॥ ११९ ॥

कायोत्सर्गसे स्थित होकर थूकना, खखारना आदि निष्ठीवन नामक बाईसवाँ दोष है । शरीरका स्पर्श करना वपुस्पर्श तेईसवाँ दोष है । प्रमाणसे कम करना न्यूनता नामक चौबीसवाँ दोष है । दिशाओंकी ओर ताकना दिगवेक्षण नामक पचीसवाँ दोष है । मायाचारको लिये हुए विचित्र रूपसे कायोत्सर्ग करना जिसे देखकर आश्चर्य हो यह छब्बीसवाँ दोष है । वृद्धावस्थाके कारण कायोत्सर्ग छोड़ देना सत्ताईसवाँ दोष है ॥ १२० ॥

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः ।

लोभाकूलत्वं मूढत्वं पापकर्मकसर्गता ॥ १२१ ॥

योज्योति यत्नाद् द्वार्त्रिंशदोषमुक्ता तनुत्सृतिः ।

सा हि मुक्तत्यडःसद्धानशुद्धये शुद्धेव संमता ॥ १२२ ॥

घोटकाख्यः । चलतः-कम्पमानस्य ॥ ११२ ॥ स्तम्भादि । आदिशब्देन कुड्यादि ॥ ११३ ॥ शबरी । दोषनामेदम् ॥ ११४ ॥ उन्नमः-उन्नमनस् । इन्ननतादल् । स्तनदावत्-शिशोः स्तनदायिन्याः स्त्रिया यथा ॥ ११५ ॥ दन्तघृष्ट्या-दन्तकटकटायनेन सह ॥ ११६ ॥ युगार्तगववत्-स्कन्धारुढयुगस्य बलीवर्दस्य यथा ॥ ११७ ॥ अडुःली । दोषनामेदम् ॥ ११८ ॥ अप्यक्षः-अघस्तादापि ग्रीवाया नयनम् । एतौ ग्रीवोर्ध्वनयनं ग्रीवाधोनयनं चेति द्वौ दोषी ॥ ११९ ॥ निष्ठीवनमित्यादि । अत्र उत्तरत्र च संज्ञा एव लक्षणानि स्पष्टत्वात् ॥ १२० ॥ मूढत्वं-कृत्याकृत्याविदेचकत्वम् । एकसर्गः-उत्कृष्टीत्साहः ॥ १२१ ॥ शुद्धेव । उक्तं च-

सदोषा न फलं दत्ते निर्दोषायास्तनूत्सृतेः ।

किं कूट कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित् ॥ () ॥ १२२ ॥

अथोत्थितोत्थितादिभेदभिन्नायाश्चतुर्विधायास्तनूत्सृतेरिष्टाफलत्वं लक्षयति-

सा च द्वयोष्ठा सदध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता ।

उपविष्टोत्थिता चोपविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी ॥ १२३ ॥

चित्तका इधर-उधर होना अट्टाईसवाँ दोष है । समयकी अपेक्षासे कायोत्सर्गकेविविध अशोमें कमी करना उनतीसवाँ दोष है । कायोत्सर्ग करते समय लोभवश आकूल होना तीसवाँ दोष है । कृत्य-अकृत्यका विचार न करना, मूढता नामक इकतीसवाँ दोष है । पापके कार्योंमें उत्कृष्ट उत्साह होना बत्तीसवाँ दोष है ॥ १२१ ॥

विशेषार्थ--मूलाचारमें कायोत्सर्गके दोषोंकी संख्या कण्ठोक्त नहीं बतलायी है । दसों दिशाओंके अब लोकोंको दस दोषोसे लेनेसे संख्या यद्यपि पूरी हो जाती है । अमितगति श्रावकाचार (८/८८--९८) में उनकी संख्या बत्तीस गिनायी है । अन्तके कुछ दोष ग्रन्थकारनश् श्रावकाचारके अनुसार कहे हैं । मूलाचारमें तो उसके सम्बन्ध में कहा है --धीर पूरुष दुःखो--के बिनाशके लिए कपटरहित, विशेषसहित अपनी शक्ति और आवस्था केअनुरूप कायोत्सर्ग करते है ॥ १२१ ॥

इस प्रकार मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक बत्तीस दोषोस रहित कायोत्सर्ग करना चाहिए । क्योंकि मुक्तिके कारण धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी सिद्धिके लिए शुद्ध कायोत्सर्ग ही आचार्योंको मान्य है ॥ १२२ ॥

कायोत्सर्गकेउत्थितोत्थित आदि चार भेद है, उनकेइष्ट और अनिष्ट फलको बतलाते है--

धर्मध्यान और शुक्लध्यानको लेकर कायोत्सर्गके दो भेद आचार्योंको मान्य है । खडे होकर ध्यान करनेवालेके कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते है और बैठकर ध्यान करने वालेके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं । इसकेविपरीत आर्त--रौद्रध्यानको लेकर

णिवकूडं सविसेसं वलाणुरुव वयाणुरुवं च ।

काओसगं धीरा करंति दुक्खक्खयट्टाए ॥ --(७--१७४)

उत्थितस्य--उद्रीभूतस्य । अन्येत्यादि । उपविष्टस्योत्थितस्य चार्तरौद्रचिनतनलक्षणादुदुर्ध्यानादुप--
विष्टापविष्टा व उत्थितोपविष्टा च द्वयी तनुत्सृतिरनिष्टानिष्टफलत्वाद्वित्यर्थः । उक्त च--

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहता ।

उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥

आर्तरीद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।

उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥

धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामृपविष्टेन चिन्त्यते ।

उपविष्टोस्थितां सन्तस्तां बदनति तनूत्यृतिम् ॥

आर्तरीद्रद्वयं यस्यामृस्थितेन विधीयते ।

तामृस्थितोपविष्टाख्यां निगदन्ति महाविधयः ॥

धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामृस्थितेन विधीयते ।

उत्थितोत्थितनामानं तां भाषन्ते विपश्चितः ॥ [अमि. श्रा. ८/५७-६१] ॥ १२३ ॥

अथ कायममत्वापिरत्यागिनोऽनशनव्रतस्यापि मुमुक्षो स्वेष्टसिद्धिप्रतिबन्धं दर्शयति--

कायोत्सर्ग करनेवाला यदि बैठकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उपविष्टोपविष्ट और खड़े होकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उत्थितोपविष्ट कहते हैं ॥ १२३ ॥

विशेषार्थ--यहाँ शुभ और अशुभ ध्यानको लेकर कायोत्सर्गके चार भेद किये हैं--उत्थितोत्थितय, उपविष्टोत्थित उत्थियोपविष्ट और उपविष्टोपविष्ट । इन चारोंका स्वरूप मूलाचारमे इस प्रकार कहा है-- जो खड़े होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके इस कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते हैं । उत्थितका अर्थ है खड़ा हुआ । ऐसा सम्यख्यानी बाहय रूपसे तो खड़ा ही है अनतरंग रूपसे भी खड़ा है अतः उत्थितोत्थित है । जो खड़े होकर आर्त और रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितोपविष्ट कहते हैं क्योंकि यद्यपि वह बाहय रूपसे खड़ा है किन्तु अन्तरंगसे तो बैठा हुआ ही है । जो बैठकर धर्मध्यान या शुक्लध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं क्योंकि यद्यपि वह बाहय रूपसे बैठा है किन्तु अन्तरंगसे खड़ा ही है । जो बैठकर आर्त-रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोपविष्ट कहते हैं क्योंकि वह अन्तरंग और बाहय दोनों हीसे बैठा है ॥ १२३ ॥

आगे कहते हैं कि शरीरसे ममत्व त्यागे बिना उपवास करनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं होती--

धम्मं सुक्कं च दुवे ज्जायदि ज्ञाणाणि जयो ठिदो संती ।

एसो काओसग्गो इह उट्टिवउट्टिदो णाम ॥

अट्टं रुंद् च दुवे ज्जायदि ज्ञाणाणि जो ठिदी संतो ।

एसो काओसग्गो उट्टिदणिविट्टिदो णाम ॥

धम्मं सुक्कं दुवे ज्जायदि ज्ञाणाणि जो णिसण्णो दु ।

एसो काओसग्गो उबट्टिद उट्टिदो णाम ॥

अट्टं रुंद् दुवे ज्जायदि ज्ञाणाणि जो णिसण्णो दु ।

एसो काओसग्गो णिसण्णदणिसण्णिदो णाम ॥ - मूलाचार इ ७/१७७-१८० ।

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशांप्यनाशुषः

जीवदाशस्य सद्धानवैधुर्यात्तत्पद्रं कुतः ॥ १२४ ॥

अप्यनाशुषः-अनशनव्रतस्यापि ॥ १२४ ॥

अथातीचारविशुद्धर्यं क्रियाविशेषसिद्धयै वा यथोक्तकालं कायोत्सर्गं कृत्वा परतोऽपि शक्त्या तत्करणे न दोषः स्यात् । किं तर्हि । गुण एव भवेदित्युपदेशार्थमाह--

हत्वाऽपि दोषं कृत्वाऽपि कृत्यं तिष्ठेत् तन्त्सृत्तौ ।

कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्धयै च शक्तितः ॥ १२५ ॥

स्पष्टम् ॥ १२५ ॥

अथ त्रियोगशुद्धे कृतिकर्मण्यधिकारिण लक्ष्यति--

यत्रस्वान्तमृपास्य रुपरसिकं पूर्व च योग्यासना--

द्य प्रत्युक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्वपाठं वचः ।

तत् क्रतुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योत्सुकतात्विकः ।

कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसितः सर्वसही निःस्पृहः ॥ १२६ ॥

उपास्याः-आराध्याःसिद्धादयः । पूतम् । एते त्रयमपि विशेष्यम् । गुरुक्रमः-दीक्षां ज्येष्ठांना पुराक्रिया कुर्वतामानुपुर्थम् । योगसनादिभिरप्रयुक्तोऽनिराकृतोऽकृतोऽसौ येन तत्तथोक्तम् । अनुज्येष्ठौद्वपाठं- ज्येष्ठानुक्रमेण प्रशस्तोच्चारणम् । उत्सुकः-सोत्कण्ठाभिलाषः । उक्तं च--

जिसका शरीरके प्रति ममत्वभाव वर्तमान है अतएव जिसकी इहलोक सम्बन्धी आशाएँ भी जीवित हैं, वह यदि अनशन व्रत भी करे तो उसे मोक्ष पद कैसे मिल सकता है क्योंकि उसके धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभाव है ॥ १२४ ॥

विशेषार्थ-सच्चा मुमुक्षु वही है जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है । घर-बार छोडकर साधु बन जानेपर भी यदि शरीरके प्रति आसक्ति है तो उसकी सासारिक अभिलाषाएँ मिटी नहीं है । ऐसी अवस्थामें उसका अनशन केवल कायक्लेश है । ऐसे व्यक्तिके धर्मध्यान सम्भव नहीं हैं तब उसे मोक्षकी प्राप्ती कैसे हो सकती है ? ॥ १२४ ॥